महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या
201-300
तक

साधु कृष्णप्रेम

समय श्रीबिहारीजीके दर्शन एवं भजनमें ही व्यतीत करता था। इस प्रकार तीन वर्षका काल व्यतीत हो गया। ब्राह्मणने महाजनको मासिक किश्तें दे-देकर प्रायः सभी रुपये चुकता कर दिये। अब कर्जके रूपमें मात्र दस रुपये ही बचे थे।

महाजन, जिसने ब्राह्मणको कर्ज दिया था, बहुत बेईमान, लोभी प्रकृतिका व्यक्ति था। उसने ब्राह्मणका मकान हथियानेका मन बना रखा था। इसलिए वह ब्राह्मणसे प्रतिमास रुपये ले-लेकर अलगसे एक बहीमें जमा कर लिया करता था, परन्तु उसे तमस्सुककी पीठमें जमाके रूपमें लिखता नहीं था।

तीन वर्ष होनेके पहले ही उसने ब्राह्मणके कुल रुपयोंकी ब्याजसहित नालिश कर दी। ब्राह्मणके नाम सम्मन जारी हुआ। ब्राह्मण उस समय वृन्दावनके प्रसिद्ध बिहारीजीके मन्दिरमें बैठा था। जब चपरासीने ब्राह्मणको सम्मन दिया, तो ब्राह्मणके होश उड़ गये। वे अति सरल, भगवद्विश्वासी जीव थे। उन्हें कल्पना भी नहीं थी कि इस तरहकी भी कोई बेईमानी कर सकता है।

इन्होंने चपरासीसे कहा कि "भाई, मैंने सब रुपये पाई-पाई, ब्याज-समेत चुकता कर दिये हैं, मात्र दस रुपये शेष बचे हैं, वे भी भविष्यमें एक-दो माहमें चुकता कर दूँगा।" चपरासीने पूछा – "भाई, कोई रसीद ली है ?" ब्राह्मणने कहा – "भाई ! मैंने महाजनपर विश्वास करके कोई रसीद नहीं ली।" चपरासीने पुनः पूछा – "भाई ! कोई गवाह है ?" ब्राह्मणके मुखसे हठात् निकल गया – "भाई ! और तो कौन गवाह हो सकता है, मात्र एक बिहारीजी गवाह हैं।"

चपरासीको ब्राह्मणकी बातसे यही समझमें आया कि कोई बिहारी नामका व्यक्ति गवाह है। चपरासी मुंसिफ मजिस्ट्रेटका खास विश्वासी अहलकार था। उसने मुंसिफ साहबसे ब्राह्मणकी सिफारिश करते हुए कहा कि "हुजूर ! ब्राह्मण बहुत ही ईमानदार है। उसपर बनियेने झूठा मुकदमा बनाया है । यद्यपि उसके पास रकम चुकाये जानेकी रसीदें तो नहीं हैं, परन्तु उसका एक गवाह है जिसके सम्मुख रुपया दिया गया है। उसके नामसे आप सम्मन जारी कर दें।"

भगवान्के लीला-विधानानुसार मुंसिफको भी विश्वास हो गया। बिहारी-गवाहके नाम सम्मन जारी हुआ। वही चपरासी पुनः सम्मन लेकर आया। ब्राह्मण मन्दिरमें ही थे। चपरासीने 'बिहारी-गवाह' का पता ब्राह्मणसे पूछा । ब्राह्मणने कहा – "सम्मन मन्दिरमें ही साट दो; गवाह, मन्दिरके पास ही यहीं-कहीं होगा, उसे स्वयं ही सूचना मिल जायेगी।" चपरासी बिहारीजीके मन्दिरमें सम्मन साटकर चला गया।

यथाक्रम अदालतकी तारीखका दिन आया। तारीखके पहले दिन ब्राह्मण बहुत ही बैचेन हुआ। रात हुई। ब्राह्मणने मन्दिरके पुजारी गोस्वामियोंसे कहा –

"आजकी रात्रि मुझे यहीं रहने दिया जाय"। पुजारीजीकी दृष्टिमें तो भगवान्‌की मूर्ति साक्षात् भगवान् थी नहीं, परन्तु उस गरीब ब्राह्मणको तो साक्षात् भगवान् ही उस मूर्तिमें विराजित प्रत्यक्ष दीख रहे थे।

पुजारियोंकी सद्भावना ब्राह्मणके साथ थी। मन्दिरमें सम्मन साटे जानेके उपरान्त सारे वृन्दावनमें यह बात प्रसिद्ध हो गयी कि ब्राह्मणने कोर्टमें बिहारीजीको अपना गवाह बनाया है। गोस्वामी पुजारी लोगोंमें भी सर्वत्र इसकी चर्चा थी। वे सभी यह जानते भी थे कि रुपये ब्राह्मणने महाजनको दे दिये हैं एवं महाजनने यह सर्वथा झूठा दावा किया है; परन्तु किसीको भी यह विश्वास कतई नहीं था कि मन्दिरके बिहारीजी गवाही देने कोर्टमें चले जावेंगे। सभी ब्राह्मणको समझा रहे थे कि इस प्रकार यदि बिहारीजी गवाही देने लगे, तब तो कलियुग रहेगा ही नहीं। फिर तो संसारमें जो इतनी झूठ–फरेब चल रही है, वह सर्वथा समाप्त हो जायगी। परन्तु ब्राह्मण अपनी जिद और विश्वाससे रंचकमात्र विचलित नहीं हो पा रहा था। उसका विश्वास सुदृढ़ था।

ब्राह्मणकी प्रार्थनापर उस ब्राह्मणको पुजारियोंने रात्रिपर्यन्त मन्दिरमें रहनेकी छूट दे दी। ब्राह्मण रात्रिभर मन्दिरके आँगनमें भगवान्‌के सम्मुख आर्त प्रार्थना करता रहा। प्रातः होनेको आया। बिहारीजीकी मंगला एवं जागरणकी आरती परम्परानुसार विलम्बसे ही होती है। रातभरके जगे ब्राह्मणको ब्राह्ममुहूर्तमें थोड़ी झपकी आ गयी। उसे उस तन्द्रामें श्रीबिहारीके दर्शन हुए। श्रीबिहारीजीने प्रकट होकर ब्राह्मणको कहा – "मैं तुम्हारी गवाही देने कोर्टमें अवश्य आऊँगा।" ब्राह्मणकी आँखें खुलीं। वह आनन्दमें भरा पूर्ण-मनोरथ था। उसने अपने सभी इष्ट-मित्रोंसे कह दिया कि अवश्य ही श्रीबिहारीजी मेरी गवाही देंगे। अब तो लोगोंने उस ब्राह्मणको अपने हँसी-मजाकका साधन बना लिया। घर-घरमें उसे बुलाकर पूछा जाता और वह साफ-स्पष्ट शब्दोंमें सबके सम्मुख ही निश्छल यह बात खोल देता कि बिहारीजीने मेरी गवाही देनेकी बात स्वयं श्रीमुखसे स्वीकार की है; ऐसा हो ही नहीं सकता कि बिहारीजी गवाही नहीं दें। लोग ब्राह्मणकी बात सुनकर हँसने लगते।

बिहारीजी गवाही दे ही देंगे – ऐसा विश्वास नहीं होनेपर भी अनेक लोग कोर्ट जाकर तमाशा देखनेका निश्चय कर बैठे।

भगवान्‌ने पुनः एक विलक्षण लीला की। आकाशमें मेघ एवं घनघोर घटा छा गयी। पानी एवं अन्धड़का ऐसा प्रकोप हुआ कि चारों ओर पानी-ही-पानी हो गया। वृन्दावनसे मथुराका रास्ता ही पानीसे पट गया। ओले पड़नेसे मौसम एकदम सर्द हो गया। इस खराब मौसमके कारण बहुतोंका मथुरा जाकर

बिहारीजीकी गवाहीको प्रत्यक्ष देखनेका उत्साह ही समाप्त हो गया। ब्राह्मणको तो हर हालतमें कोर्ट जाना ही था। कुछ लोग – जो ब्राह्मणके अति अन्तरंग मित्र थे, वे सब तो उसके साथ गये ही।

मुंसिफके कोर्टमें मुकदमा खुला। जैसा विधान होता है, उसीके अनुसार सभी व्यवहार हुए। यथासमय बिहारी-गवाहकी पुकार लगायी गयी। "बिहारी-गवाह, हाजिर हो" – पहली आवाजमें कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला। चपरासीने ब्राह्मणसे प्रश्न किया ? ब्राह्मणने कहा – "है तो यहीं।" फिर दूसरी आवाज लगी – "बिहारी-गवाह हाजिर हो" – फिर भी कोई प्रत्युत्तर नहीं आया। तीसरी आवाज पुनः लगी – "बिहारी-गवाह हाजिर हो" – यह अन्तिम पुकार थी। किन्तु, इसी बीच एक विलक्षण मधुर एवं गंभीर आवाजमें प्रत्युत्तर मिला- "हाजिर है।"

लोगोंमें सन्नाटा छा गया। ब्राह्मणको रोमांच हो आया। उसकी दृष्टि भीड़में चली गयी। उसने देखा – भीड़मेंसे एक व्यक्ति काले कम्बलमें अपने सारे शरीरको लपेटे कोर्टकी ओर बढ़ रहा था। जैसे वह कोर्टके सभी रीति-रिवाजसे पूरी तरह परिचित हो – वह गवाहके कटघरेमें खड़ा हो गया। उस गवाहने तनिक-सा अपने मुखका पर्दा हटाया और मुंसिफकी ओर देखा। मुंसिफके हाथसे कलम गिर गयी। वे एकटक उस मनुष्यकी ओर देखने लगे। कुछ देर बाद जब मुंसिफ अपनेको सँभाल पाये, तभी मुकदमेका कार्य प्रारंभ हुआ। मुंसिफने गवाहसे प्रश्न किया – "आप इन ब्राह्मणके गवाह हैं ?" गवाहने कहा- "जी हाँ ।" मुंसिफने कागज, कलम उठायी और बयान लिखने लगा। मुंसिफने प्रश्न किया – "आपका नाम ?" गवाहने उत्तर दिया – "बिहारी अहीर ।" मुंसिफने पुनः पूछा – "आपकी वल्दियत ?" गवाहने उत्तर दिया – "नन्दराय अहीर ।"

सम्पूर्ण कोर्ट चकित था। मुंसिफने पूछा – "आप जानते हैं, इस ब्राह्मणने महाजनके पूरे ऋणके रुपये चुकते कर दिये ?" गवाहने शुद्ध उर्दू भाषामें ही उत्तर दिया – "हुजूर ! मैं तमाम वाक्यात आपके सम्मुख अर्ज करता हूँ।" इसके पश्चात् गवाहने तारीखवार कब-कब, कितने-कितने रुपये ब्राह्मणने, महाजनको कैसे चुकते किये, इसका विस्तृत सटीक विवरण दे दिया। एक-दो नहीं, सैंकड़ों किश्तोंमें रुपये चुकाये गये थे। परन्तु बिहारी-गवाह सही तारीख, वार और तिथि, साथ-ही-साथ सही समयका भी उल्लेख कर रहा था।

मुद्दईके वकीलने इसपर आपत्तिकी । उसने कहा – "यह गवाह झूठा है, कोई मनुष्य इतनी तारीखें, तिथि, वार एवं सही समय इतने लम्बे समयतक

स्मृतिमें सँजोये नहीं रख सकता। यह असंभव है।''

बिहारी-गवाहने पुनः कहा – ''मुझे सर्वथा याद है। मैंने स्वयं साथ जाकर इनके रुपये चुकाये हैं।'' मुंसिफने पुनः पूछा – ''क्या रुपये बहीमें दर्ज हुए हैं ?'' गवाहने कहा कि महाजनके पास दो बहियाँ हैं। एक बही कोर्टमें पेश करनेके लिये है, उसमें कुछ भी दर्ज नही है। दूसरी बही सेठके कमरेमें लोहेकी अलमारीमें है, उसमें उन्हीं तारीखोंमें सभी रुपये दर्ज हैं – जो तारीखें मैंने अर्ज की हैं। मेरे साथ यदि मुंसिफ साहब महाजनके घरतक चलें, तो मैं अभी सभी जमा रकम जिस बहीमें दर्ज हैं वह बही कहाँ रखी है, यह भी बता सकता हूँ। आप उसमें जमा रकमसे मेरी तारीखें मिलान कर सकते हैं।''

कोर्ट बरखास्त करके मुंसिफ महाजनके घर उसी समय आये। मुंसिफके साथ-साथ वह चपरासी, काले कंबलसे शरीर ढके बिहारी-गवाह और उत्सुक जनता उमड़ पड़ी। बिहारी-गवाहने अलमारी बता दी। अलमारी खोली गयी। बिहारी-गवाहने, जिस बहीको संकेतित किया, उस बहीको मुंसिफने खोली। गवाहने जो-जो तारीखें बतायी थीं, ठीक उन्हीं तारीखोंमें ब्राह्मणके नाम सभी किश्तें ज्यों-की-त्यों जमा मिलीं। सबसे अन्तिम किश्तका रुपया कई पन्नोंके पश्चात् जमा मिला। उसे ढूँढनेमें अवश्य कुछ समय लगा, किन्तु वह भी ठीक उसी तिथिमें जमा पाया गया, जो तिथि बिहारी-गवाहने बतायी थी।

मुंसिफने सब जमाखर्चकी अच्छी प्रकार जाँच-पड़ताल की। इस जाँच-पड़तालके कारण बिहारी-गवाहसे उसकी दृष्टि हट गयी। बस, सब जाँच-पड़ताल पूरी करके मुंसिफने बिहारी-गवाहको जैसे ही खोजना चाहा, बिहारी वहाँ था ही नहीं।

मुंसिफ कोर्टमें गये। मुकदमा खारिज कर दिया। कहते हैं, मुंसिफ साहबने स्वयं भी अपना इस्तीफा लिखा और नौकरी छोड़कर साधु हो गये। वे जबतक ज़ीवित रहे, वृन्दावनमें ही देखे गये। ब्राह्मण देवता तो पूर्वसे ही श्रीबिहारीजीके शरणागत थे, एवं जबतक जीवित रहे, बिहारीजीके मन्दिरमें ही भजन-पूजन करते रहे। इस घटनाको पत्र-लेखन तिथिसे पाँच-छः वर्ष पूर्वकी माननी चाहिये, अर्थात् यह घटना लगभग १९३३-३४ ई. की है।

इस घटनाके उल्लेखमें बिहारी-गवाह अथवा मुंसिफ आदिके कहे हुए शब्दोंमें थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है; शेष घटनाक्रम प्रायः ज्यों-का-त्यों है।

मैंने श्रीभाईजीसे यह घटना सुनी है, इसलिये इसके सत्य एवं प्रामाणिक होनेमें कहीं भी तनिक भी सन्देह नहीं है। इस घटनाका पत्रमें उल्लेख करनेका मन्तव्य यही है कि भगवान् आज भी अपने भक्तोंको अपनी भावनानुसार कृतार्थ

करनेको तत्पर हैं। निष्काम-भक्तोंको प्रेमदान एवं दर्शन तथा सकाम-भक्तोंको उनकी वांछित कामना पूर्ण करके भगवान् आज भी कृतार्थ करते हैं। हमारा विश्वास उठ गया है, इसीसे हमारी पद-पदपर हानि हो रही है। भगवान्, बिना किसी भेदभावके, सबको स्वीकार किये हैं, अश्रद्धावश हम ऐसा नहीं मानें, तो दोष हमारा ही है। इसीलिये मैं आप सभीसे एक ही प्रार्थना करता हूँ कि सभीको अधिक-से-अधिक भगवान्का नाम लेना चाहिये। सभी अनुभव-प्राप्त सन्तोंका इस विषयमें एकमत है, कि जो जितना अधिक नाम-जप करेगा, वह उतना ही शीघ्रतापूर्वक भगवान्की ओर अग्रसर हो सकेगा। भगवान्की शीघ्रतिशीघ्र प्राप्तिके लिये इसके सिवा और कोई सुगम साधन इस कलिकालमें नहीं है।

आवश्यकतानुसार कम-से-कम बोलें और शेष समय नाम-जपमें लगावें। जैसे-जैसे अन्तःकरण पवित्र होगा, वैसे-वैसे भजनमें प्रेम बढ़ता जायेगा। फिर तो धारा-प्रवाह स्वाभाविक ही भजन होने लगेगा। फिर उसमें श्रम नहीं, विश्रामकी प्राप्ति होगी। जबतक यह स्थिति नहीं हो, अधिक-से-अधिक नाम-जप करना चाहिये।

भगवान् मात्र कहने-सुननेकी ही वस्तु नहीं हैं। साधनाका क्रियात्मक प्रयोग करके उन्हें प्राप्त करनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। इस संसारमें सार-वस्तु मात्र भगवान् हैं। हमारी धन-माया, परिवार, पुत्र-पत्नी, सम्बन्धी और यह शरीर सब मात्र भगवान्के लिये ही हों।

आपका
चक्रधर

।।श्रीराधा।।

पत्र संख्या - सात (७)

तत्तेनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः

पत्र-लेखक :

प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

माहेश्वरी विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता (बंगाल)

प्रेषण-स्थल :
डालमिया जैन एण्ड कम्पनी
पो. डालमिया-दादरी (जिंद स्टेट)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपि

दिनांक :
१३-६-३९

।। श्रीराधाकृष्णौवन्दे ।।

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र गोरखपुरसे पुनः प्रेषित होकर आज ही मिला है। मैं यहाँ श्रीभाईजीके साथ आया हूँ। भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) एकान्त-जीवन बितानेकी दृष्टिसे यहाँ आये हैं; यद्यपि इस उद्देश्यकी पूर्तिमें अनेक अवरोध दीख रहे हैं। कल्याण-पत्रके सम्पादन-विभाग एवं अन्यान्य भाइयोंका भाईजीके प्रति अतिशय आकर्षण है। वे सभी लोग इन्हें सर्वथा छोड़ना नहीं चाहते। और तो क्या, स्वयं सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका, जिनके प्रति श्रीभाईजीका अगाध पूज्य-भाव है, वे भी भाईजीको स्थायीरूपसे गोरखपुर छोड़नेकी आज्ञा नहीं दे रहे हैं ; फिर भी भाईजी सभीको किसी तरह थोड़ा-बहुत राजी करके एक बार यहाँ आ गये हैं। भाईजी यद्यपि अपने एकान्त-जीवनमें किसीको भी अपने साथ नहीं रखना चाहते, परन्तु मुझपर यह भगवान्‌की अतिशय दया ही है कि मुझे उन्होंने अपने साथ रहनेकी स्वीकृति दे दी है। अतः मैंने यही विचार किया है कि जबतक श्रीभाईजीको मेरे कारण कोई असुविधा नहीं हो, तबतक मैं उनके पास ही रहूँ।

वैसे, भाईजीका स्थायीरूपसे कहाँ रहना होगा, यह अभी निश्चय नहीं है।

अनेक स्थान उनके ध्यानमें हैं। जहाँ भी उनका जाना होगा, आपको सुविधानुसार सूचना दे दूँगा।

आप मेरे स्वास्थ्य अथवा अन्य व्यवस्था-सम्बन्धी बातोंको लेकर चिन्तित नहीं होंगे। हम सभी भगवान्‌की असीम दयामें ही अवगाहन कर रहे हैं। अनन्त-कृपासागर प्रभुका विधान दयासे रहित हो ही नहीं सकता। मंगल-सागरसे अमंगल विधान तो निकल ही नहीं सकता; भले ही हमारे जीवनमें ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि हमें दर-दरका भिखारी बन, मारा-मारा फिरना पड़े। ऐसे भीषणतम प्रतिकूल विधानमें भी निश्चय ही भगवान्‌का परम मंगलमय हेतु ही छिपा रहता है। हमारी बुद्धि इसे समझ पावे, ऐसा भले ही नहीं हो, क्योंकि भगवान् अपनी प्रत्येक क्रियाका हेतु हमपर प्रकट ही कर दें, यह आवश्यक नहीं है। हमें तो उनपर श्रद्धा ही रखनी चाहिये, और तनिक भी दुःख न मानकर मंगल-ही-मंगल, अथाह-मंगल, अपार-मंगलमयताका ही अनुभव हर विधानमें करना चाहिये।

यदि हमारी बुद्धि इस मंगलमयताको न देखकर भगवान्‌के द्वारा घटित हौनेवाले विधानमें किञ्चित् भी दुःख मानती है, तो निश्चय ही समझ लें कि अभी हमें जगन्नियन्ताके पास पहुँचनेमें बिलम्ब है। हम भूलसे ही भयानक वस्तुको सुखदायक समझ रहे हैं। इसे निश्चय ही सत्य समझ लीजिये कि भगवान्‌ने यदि हमें कोई प्रतिकूलता दी है, तो उसका कारण यही है कि जिसे हम अपने अनुकूल विधान समझ रहे हैं, वह हमारे लिये भविष्यमें घोर अहितकारी भयानक परिणामोंको उत्पन्न करनेवाला ही था। हम प्रमाद एवं भूलसे ही उस भयानक-से-भयानक परिणामको उत्पन्न करनेवाली परिस्थितिको सुखदायक समझ रहे थे। कृपामय भगवान्‌का विधान ऐसा है कि भगवान् हमें उस अहितकारी भयानक परिणामसे बचानेके लिये निर्दयतापूर्वक रोक लगा देते हैं, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ प्रभु हमारी तरह अबोध तो हैं नहीं; वे भला हमारी मनचाही अहितकारी वस्तु देकर हमारा जीवन बरबाद क्यों करेंगे ?

मेरे कहनेका इतना ही तात्पर्य है, कि मुझे अथवा आपको अपना योग-क्षेम जगन्नियन्ताके हाथमें सौंपकर निश्चिंत हो जाना चाहिये। लोगोंकी दृष्टिमें दीन-हीन रहकर भी यदि हमने अपनेको जगन्नियन्ताके हाथों सौंप रखा है, तो हम निश्चय ही शाहंशाहों के शाहंशाह हैं।

मैं तो सन्तोंके सत्संग एवं शास्त्रोंकी वाणीसे एक ही निश्चयपर पहुँचा हूँ – यही मुझे अकाट्य एवं अमोघ सत्य दृष्टिगोचर हो रहा है कि करुणासागर प्रभुकी हेतुरहित दयासे विश्वका एक पामर-सा कीड़ा और जगत्-स्रष्टा

ब्रह्माजी – दोनों समानरूपसे निरन्तर भीग रहे हैं। करुणा-सागरकी अपार करुणाकी लहरें इतनी उद्दाम एवं असीम, अथाह हैं कि कोई भी उनसे वंचित नहीं रह सकता। यदि कोई भी प्राणी उनका नाम ले-लेकर ही उन्हें पुकारता रहे, तो उसे उस दयाका परिचय अवश्य-अवश्य ही मिल जायेगा; यह मेरा विश्वास है।

भैया ! प्रारब्धका फल तो होकर ही रहता है। वह तो टाला जा नहीं सकता। दुःखके साथ मनुष्य प्रायः चंचल हो जाता है। उस समय भक्तिके सुन्दर भावोंको पल्लवित करनेमें कठिनाईका अनुभव करता है। बुद्धिमानी इसीमें है कि कठिन-से-कठिन विपत्तिके अवसरपर भी मनुष्य किसी दूसरी ओर न मुड़े। भगवान्‌का सहारा छोड़कर मनुष्य यदि किसी दूसरेकी शरण ले लेता है, तो समझना चाहिये – भगवान्‌पर उसकी श्रद्धा नहीं है।

भगवान्‌की दया कैसी हेतुरहित और विलक्षण है – इसका उल्लेख श्रीमद्भागवतकार करते हैं :-

''अहो बकीयं स्तन कालकूटं जिघांसयाऽपाययदप्य साध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितं ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।

''अहो, आश्चर्य है ! इस पूतनाने अपने स्तनमें कालकूट विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपना स्तन पिला दिया। ऐसी असाध्वी (बाल-हत्यारिणी) को भी जिन्होंने धात्री यशोदाके समान गति दे दी, ऐसा अन्य दयालु कौन संभव है, जिसकी शरण ली जावे ?''

परम सत्य यही है कि अपार कृपालुकी अनन्त कृपाधारामें ही यह सारा संसार डूबा हुआ है, परन्तु हम उस कृपाधाराका अनुभव नहीं कर पाते।

यह इसी प्रकार है, जैसे अनन्त समुद्रमें तैरती एक छोटी बाल-मछली अपनी माँसे जिज्ञासा करती है – ''माँ ! लोग कहते हैं, मछलियाँ समुद्रमें पैदा होती हैं, वह समुद्र, माँ ! कहाँ है, मुझे तो वह दीखता ही नहीं।'' जैसे मछलीकी बच्ची अपने ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें समुद्र-ही-समुद्र होते हुए भी समुद्रको नहीं पहचानती, उसी प्रकार, हमारे चतुर्दिक्, सब ओर दयामयकी अपार, अनन्त दयाके रहते हुए भी हम उस दयाका अनुभव नहीं कर पाते। इस अनुभवहीनता और अविश्वासके कारण ही हमारा सब दुःख है।

भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होनेमें हेतु, मात्र हमारे अन्तःकरणकी मलिनता ही है। अन्यथा भगवान्‌के साकार-विग्रहमें रक्त-मांस तो है नहीं। उसमें तो मात्र कृपा-ही-कृपा, आत्मीयता-ही-आत्मीयता भरी है।

श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य कहते हैं :–

"चिन्ता कापि न कार्याः निवेदितात्मभिः
भगवान् पुष्टिस्थः न करिष्ये लौकिकीं च गतिम् ।।"

अर्थात्, चिन्ता कदापि नहीं करना चाहिये, भगवान्को बस, अपनेको निवेदित-समर्पित कर देना ही जीवका कर्तव्य है। भगवान्की सत्ता ही उनकी कृपा-महिमासे पूरम्पूर है। उनमें कृपाके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। अतः उनका संपूर्ण विधान कृपापूर्ण ही संभव है। भगवान्की भगवत्ता ही उनका कृपा-स्वभाव है। वे हमारी निश्चय ही अलौकिक गति करेंगे।

भैया ! कठिनाई यही है कि हमने भगवानको तो देखा है नहीं। जो भी हमारी दृष्टिपथमें लोग आये हैं, वे सभी रागी, द्वेषी हैं। उनमें यदि कहीं कुछ भी, कभी उपकार-भावना उदय होती है, तो उसके साथ ही वे उस उपकारका बदला भी चाहते हैं, अतः हमारी दृष्टिमें जीवन-भरमें हेतुरहित कृपाका कोई उदाहरण नहीं आनेसे हमारा विश्वास ही नहीं बनता कि कहीं कोई कृपा-सागर स्वरूप भी संभव है।

वास्तवमें मेरे पास भी कोई उपाय नहीं है कि मैं आपको या अन्य किसीको भी मेरी बातका विश्वास करा दूँ। परन्तु अनादिकालसे अबतक जितने भी जगत्में सन्त-महात्मा हुए हैं और आज भी जितने महात्मा हैं – सभीका यही अनुभव था एवं है कि अपने-आपको भगवत्कृपापर छोड़ दो। मात्र, बस, मुखसे जितने भी दो-पाँच, दस-बीस भगवान्के पावन नाम बनें, लेते जाओ। अधिक नाम ले सको तो कहना ही क्या ? परन्तु भगवान्को अधिक नाम पुकारनेकी खुशामदी और चाटुकारिता कोई रिझाती हो, सो बात भी नहीं है। अपने आपको सच्चे विश्वाससे भगवत्कृपापर छोड़ दो। सारे साधन अपने-आप प्राप्त हो जावेंगे। बस, हमें इतना ही करना है कि हम अपने भीतर भगवत्कृपाका जो क्षीण-सा भरोसा है, उसे बनाये रखें ।

श्रीतुलसीदासजी अपने पदमें यही बात कैसे प्रगाढ़ विश्वाससे दोहराते हैं; हम भी उनके स्वरमें स्वर मिलाकर गा पावें, तो धन्य हो जावेंगे :–

मैं भरोसे अपने 'राम' के और नहीं कुछ कामके ।
दोउ अक्षर सब कुल तारे वारि जाऊँ उस नामके ।
तुलसी दास प्रभु राम-कृपा-धन और देव सब दामके ।

आपका

।। श्री राधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - आठ (८)

संसारकी सच्ची सेवा

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र, श्रीतारादत्तजी मिश्र

माहेश्वरी विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता

स्थान :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम - रतनगढ़, (बीकानेर)

दिनाक :

२०-१-४० ई.

प्राप्ति-सूत्र :

श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी पत्र-संग्रह की कापीसे प्रतिलिपि किया गया

आलोक

बीकानेर राज्यकी रतनगढ़ तहसील। ग्राममें मारवाड़ी अग्रवाल सेठोंका प्राधान्य। वैश्यजातिके इन अग्रवाल सेठोंकी प्रकृति अति धर्म-परायण। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रति जनताके सभी वर्गोंमें आत्मीयता एवं श्रद्धा है। ग्राममें ब्राह्मण जाति, अग्रवाल-वैश्योंके द्वारा दी जानेवाली दान-दक्षिणा एवं उनके द्वारा कराये गये कर्मकाण्डों एवं देवोपासनाकी आजीविका पर निर्भर है। ग्राममें सड़के नहीं। रेतीले मार्ग । बाजार चौपड़नुमा बसा हुआ है। ग्रामकी चारों दिशाओंमें दरवाजे हैं। ग्राममें प्रमुख धनिक सूरजमल नागरमल जालान है। उनके इष्ट श्रीरामचन्द्रजी हैं। अतः उनके द्वारा बनाया गया रघुनाथजीका सुन्दर संगमरमरका मन्दिर, दसवीं कक्षातकका 'रघुनाथ विद्यालय' नामक स्कूल तथा एक सुन्दर पुस्तकालय है जिसका नाम भी 'रघुनाथ पुस्तकालय' है। ग्राममें वैश्य अग्रवालोंकी बहुत सुन्दर कलात्मक चित्रकारीसे सजी हवेलियाँ हैं। उनकी बड़ी-बड़ी पिरोलें हैं। अधिकांश सेठ व्यापारके लिये कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानोंमें रहते हैं। उनका मात्र धार्मिक पर्वोंपर ग्राममें आगमन, होता है, ग्राम चारों ओर सुनहरी रेतके ऊँचे-ऊँचे टीलोंसे घिरा हुआ है। जलके लिये कुँए – जिनका पानी अतिशय सुस्वादु, मिष्ट है। मालीलोग

कंधोंपर घड़े रखकर घरोंमें पानी पहुँचाते हैं। जनता भोली, सत्य-परायण एवं चरित्रवान् है।

ग्रामके मध्यमें भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली है। हवेलीके मुख्य प्रवेशद्वारके पास ही सटे एक पहले तल्लेके कमरेमें स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजका निवास है। हवेलीके नीचेके भागमें 'कल्याणका' सम्पादकीय विभाग एवं हवेलीके अन्दर भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीका गृहस्थ-निवास है। वातावरण परम धार्मिक है; सायंकाल तथा प्रातःकाल दोनों समय कीर्तन-भजन एवं सत्संग-चर्चा, गीता-रामायण आदि शास्त्रोंपर प्रवचन होते रहते हैं। ग्राममें सर्वत्र श्रीहनुमानजी महाराजकी प्रमुख मान्यता है।

श्रीराधाकृष्णौ वन्दे

पूज्य देवदत्त भैया एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम। आप दोनोंके पत्र मिले। आप लोगोंको पृथक्-पृथक् पत्र देनेमें समय भी बहुत लगता है एवं बातें वे ही हैं, जो दोनोंको समानरूपसे कहनी हैं, अतः यदि एक ही पत्र आप दोनों पढ़ लें, तो उत्तम रहे। आप दोनोंने लिखा कि आप दोनों भाई एक प्रकारका ही मन रखते हो। आप दोनोंकी दृष्टिमें स्त्री-परिवार, भाई-बन्धु एवं कुटुम्बीजनोंकी सेवा ही प्राथमिक कर्तव्य है। आप दोनों भाई अपने कुटुम्ब-परिवारकी सेवा ही करना चाहते हो। आपने जो कुछ मुझे लिखा है, वह सच्चे मनसे ही लिखा है। आप दोनों भाइयोंके मनमें स्वार्थ-त्याग नहीं हो, सो बात भी नहीं है।

मैं स्वयं जब स्कूलमें पढ़ता था, उन दिनों यही सोचता था कि मुझे तो अपना जीवन देश-सेवामें ही लगाना चाहिये। देशके लिये मेरे मर-मिटनेसे यदि परिवारको पर्याप्त क्षति होती है, तो भी अपना सुख और परिवारका सुख देश-हितमें बलिदान कर देना, मैं मेरा प्राथमिक कर्त्तव्य समझता था। मुझे उन दिनों ऐसे लोग भी मिले, जो मात्र समाजकी सेवाको ही अपना कर्तव्य मानते थे। मुझे ऐसे भी लोगोंके दर्शनोंका सौभाग्य मिला, जो सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंकी सेवा करनेमें ही अपने जीवनकी सार्थकता समझते थे।

भैया, जिन महापुरुषोंके ऐसे सच्चे भाव हैं, वे सर्वथा प्रशंसनीय हैं। ऐसे उदात्त भाववाले लोग ही संसारमें महान् कार्य कर पाते हैं। मैं भी पूर्व-कालमें इन्हीं विचारोंको प्रशंसनीय मानता था। परन्तु भैया ! इधर मेरे मनमें कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण, साथही सर्वथा ही भिन्न विचार उदय हुए हैं। आज मेरी दृष्टि ऐसी है कि वस्तुतः जो भगवान्‌के चरणोंमें चित्त लगाकर भगवान्‌की सेवा नहीं कर सकता, उसके द्वारा किसी भी प्राणीकी सेवा करना कठिन ही नहीं, अपितु

असंभव है। इसके प्रतिकूल जो भगवान्‌में लग चुका है, अथवा तत्परतापूर्वक लगनेकी चेष्टामें है, उसके द्वारा विश्वके प्रत्येक प्राणीकी यथायोग्य सेवा अपने-आप हो जाती है। उसके लिये उसे कोई पृथक् प्रयत्न करनेकी आवश्यकता ही नहीं होती। अवश्य ही भगवत्सेवाका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। वह भिन्न-भिन्न लोगोंके लिये भिन्न-भिन्न रूपमें हो सकता है। कोई विश्वके सभी प्राणियोंके रूपमें भी प्रभुको देख सकता है; कोई परिवारके जनोंमें भी भगवान्‌को देखकर उनकी सेवा कर सकता है, परन्तु महत्त्व देनेकी बात भगवान्‌को ही है। परिवारको, देशको, विश्वको भगवान्‌के ऊपर यदि प्रामुख्य दिया जा रहा है, तो मेरी दृष्टिमें यह उसका मोह है और मोहाक्रान्त प्राणी सेवाके अयोग्य ही है। हाँ, यदि कोई पत्नीको ठीक परमात्मा मानकर पूजा कर रहा है, साथ ही परिवारके सभी प्राणियोंको भगवान्‌की मूर्तियाँ ही समझ रहा है, तो उसमें पत्नीके प्रति ही अथवा परिवारके प्रति ही 'मैं समर्पित हूँ' – यह भाव नहीं रहेगा। वह मन्दिरमें भगवान्‌की मूर्तिको देखकर उसी प्रकार सेवातुर हो उठेगा, जैसा वह पत्नीको भगवान्‌की मूर्त्ति समझकर सेवातुर हो रहा है।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि किसीके भी द्वारा, किसी भी रूपमें, यदि भगवत्सेवा अथवा भगवदाराधना हो रही है, तो फिर उसके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। जैसे वृक्षके मूलमें जल देनेसे तरु, शाखा एवं सम्पूर्ण पल्लवोंकी सेवा स्वतः ही होती है, वैसे ही भगवान्‌की सेवा यदि किसीसे किसी भी रूपमें हो जाय, तो विश्वकी सेवा स्वतः ही हो जायेगी। उस प्राणीके लिए परिवारकी, देशकी, विश्वकी पृथक् सेवाके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

तनिक गंभीरतापूर्वक विचार करें, आपका परिवार आपसे मात्र तनकी अथवा धनकी सेवा ही चाहेगा, उसके उपरान्त भी आपकी सेवासे वह कभी भी पूरा संतुष्ट नहीं हो सकेगा। भगवान्‌को आप मात्र मनकी सेवासे ही पूर्ण संतुष्ट कर सकते हैं।

राक्षसी पूतनाने भगवान्‌को मार डालनेकी वासनासे स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर अपना दूध पिला दिया, परन्तु भगवान्‌ने उसे यशोदाजीकी (माताकी) गति दे दी; लोगोंको आप यावज्जीवन अपना सर्वस्व दे दीजिये, इसके उपरान्त यदि किसी एक दिन केवल एक बारके लिये भी आपने उनको कठोर वाणी कह दी, तो चाहे उस वाणीके पीछे आपकी परम हितभरी भावना ही क्यों न हो, परिवारके लोग आपसे द्विष्ट हो जावेंगे। परिवारके लोग आपसे मात्र स्वार्थपूर्ति ही चाहते हैं, उनको आपके आत्यंतिक कल्याणसे कोई सरोकार नहीं। जहाँ भगवान्, आपका मात्र आत्यंतिक सुख, कल्याण ही चाहते हैं, उन्हें आपसे कोई लौकिक स्वार्थ नहीं ।

इसलिये भैया ! मेरी तो आपसे पुनः प्रार्थना है कि आप शास्त्रोंके वचनों पर विश्वास करें। भगवान्‌के भजन और उनकी ही सेवाको प्रामुख्य दें। इसके उपरान्त आपके द्वारा जो भी पारिवारिक सेवा होनी है, वह स्वतः ही हो जायेगी। मेरा मन्तव्य यह कदापि नहीं समझें कि आप एकान्तमें बैठकर ही भजन करें। आप भगवान्‌की सर्वव्यापी सत्तापर ही विश्वास करें, परन्तु भजनकी ओर बढ़ चलें। परिवारके लिये भगवान् जो कुछ कराना चाहें, उसे भगवान्‌का यंत्र बनकर करनेकी चेष्टा करें। जो कुछ भी कर्म हों, यावन्मात्र भगवान्‌के उद्देश्यसे ही हों, अपने लक्ष्य भगवान् ही रहें। अपने ह्रदयको भगवान्‌से तनिक भी विचलित नहीं करें ।

यह बात तो अकाट्य है कि जो कुछ भी हो रहा है, हुआ है अथवा होगा, वह सब भगवान्‌के विधानानुसार पूर्व निर्धारित ही है। उसमें आप कहीं कुछ भी परिवर्तन कर नहीं सकते। परिवारके जितने भी प्राणी हैं, उनका जीवन-मरण मान-अपमान, सुख-दुःख, रोग-शोक, सब पूर्व विधानानुसार नियत है। वह विधान अटल है, किसी भी प्रकार टाला जा ही नहीं सकता। आप अपने पर निर्भर प्राणियोंकी सुख-सुविधाकी चेष्टा भले ही कर सकते हैं, परन्तु उनपर आये रोग-शोक, मान-अपमान, जीवन-मरण, हानि-लाभ आदि प्रकोपोंका पूर्ण निवारण कर सकें, यह तो संभव है ही नहीं। उन सभीपर अथवा उनमेंसे किसी एकपर विपत्ति आनेपर मेरी दृष्टिमें आपको चिन्तित होनेकी भी सर्वथा आवश्यकता नहीं है। ऐसे अवसरोंपर भगवान्‌के भजनको गौण करनेकी भी आवश्यकता नहीं ही होनी चाहिये।

क्योंकि उनकी सहायता जो कुछ भी हो सकती है, वह भजनसे ही संभव है। इतना तो भैया, आप भी समझते हैं कि मनुष्यकी शक्ति सर्वथा सीमित है। फिर अनन्त दयाके सागर भगवान् सबके सुहृद हैं। जो सब तरहसे गया-बीता है, सब प्रकारसे सबकी दृष्टिमें हीन है, भगवान् तो उसके भी अपने-से-अपने हैं। आपकी अपेक्षा आपके परिवारकी भगवान्‌को अधिक चिन्ता है। फिर भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, उनका प्रत्येक विधान सभीके लिये परम मंगलमय है। भगवान्‌को हमारी अपेक्षा अधिक चिन्ता है कि किसके लिये कब, क्या होना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें ऐसा समझें कि जिन-जिन चिन्ताओंसे आप चिन्तित हो रहे हैं, अगर वे वस्तुतः ही महत्त्वपूर्ण हैं, तो भगवान्‌को भी चिन्ता होनी ही चाहिये। अर्थात् जिसको सुखी करनेको भैया ! आप व्यग्र हैं अथवा जिस परिस्थितिको टालनेकी आप चिन्ता किये हैं, आपसे बढ़कर भगवान्‌के द्वारा उस व्यक्तिकी बहुत सुचारुरूपसे सँभाल हो जानी चाहिये। अतः भजनको छोड़कर

भगवान्के मंगलमय अवश्यंभावी विधानमें अपनी किसी अहंकारजनित टाँग अड़ानेकी क्रियासे परिवारकी सेवा तो संभव होगी ही नहीं, आपका अहंकार आपको भजनसे काटकर जगत्की भूल-भुलैयामें फँसाकर चिन्ता, दुःखादिमें डाल देगा। आपका अनमोल मानव-जन्म जो भगवान्की प्राप्तिके लिये आपको मिला है, व्यर्थ ही चला जायेगा। अतः मेरी स्नेहजनित इस प्रार्थनाको यदि आप स्वीकार कर लें, तो भगवद्भजनको ही प्रामुख्य दें। परिवारकी सेवा आप अवश्य करें, परन्तु वह हो भगवद्भजनके साथ-साथ ही। भगवद्भजन यदि प्रमुख रहेगा, तो निश्चय ही हम पूर्ण-निरापद संसार-यात्राके समधुर फल भगवत्प्राप्तिकी ओर कदम बढ़ा सकेंगे।

आपके पत्रको पढ़कर जो भी बातें मेरे मनमें आयीं, मैं लिखता चला गया हूँ। इनमें अगर कुछ सार दीखे तो आप ध्यान दें, अन्यथा इसे बकवास समझकर रद्दीकी टोकरीमें डाल देंगे।

आपका

चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - नौ (९)

स्मर्त्तव्यं सततं विष्णुः

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र, कलकत्ता

प्रेषण-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम पो. रतनगढ़ (बीकानेर)

दिनांक :
१ फरवरी, १९४०

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी पत्र-संग्रहकी कापीसे की गयी प्रतिलिपि

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला । पू. तारादत्त भैयाके अँगूठेमें घाव हो जानेके समाचार विदित हुए। भगवान् कष्ट देते हैं – उससे अनन्त गुना सुख देनेके लिये। वैसे प्रारब्धका फल होकर ही रहता है, टाला नहीं जा सकता। परन्तु भगवान् प्रारब्ध भी ऐसा ही संगठित करते हैं, जिसमें यदि घोर दुःख आवे, तो उसके पश्चात् सुख भी उससे अधिक मात्रामें ही मिले।

मनुष्य-जीवनकी सार्थकता तो इसीमें है कि निरन्तर भगवान्‌का ही स्मरण किया जाये। त्रिकालज्ञ सत्यवक्ता श्रीवेदव्यासजी महाराज कहते हैं :–

स्मर्त्तव्यं सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यं न जातु चित् ।
सर्वे विधि निषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ।।

अर्थात्, जितने भी विधि-निषेधात्मक शास्त्र-वचन किंवा सन्तवाणियाँ हैं सबका अन्तर्भाव मात्र इसी बातमें है कि निरन्तर भगवान्‌का ही स्मरण हो, एवं उनका एक लव-मात्र भी विस्मरण नहीं किया जाय।

हम लोगोंनें भैया, अनन्त जन्म ग्रहण किये, अनन्त शरीरोंके अनन्त, परिवार बने एवं बिगड़े, अनन्त बार 'मेरा-तेरा' कहकर प्राणियोंको मोह-जालमें फाँसा एवं सबको छोड़ भी दिया, आज उन सभीकी हमें स्मृति भी नहीं है।

परन्तु भगवान्‌के सम्बन्धमें सभी शास्त्र एवं सन्त-समुदाय एकमतसे यही कहते हैं कि वे जिसे एक बार भी अपना बना लेते हैं, फिर कभी उसका परित्याग नहीं करते। किसी भी जन्ममें एकबार भी सच्चे हृदयसे हमने भगवान्‌को 'मेरा' कहकर उनका वरण नहीं किया। उनकी वाचिक-शरण भी पूर्व-जन्मोंमें हमने नहीं ही ली। श्रीमद्भागवतमें राजा मुचुकुन्दसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :–

वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते ।
मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ।।

अर्थात्, हे राजर्षे ! कोई भी श्रेष्ठ वर माँगिये, मैं आपकी सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति कर सकता हूँ और जो भी आपकी इच्छा होगी, वह वर आपको दूँगा। मेरे शरणागत व्यक्तिको कभी किसी, भी चिन्ताका पात्र होनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब यदि हमने अपने पूर्वजन्मोंमें कभी भगवान्‌की मात्र वाचिक शरण भी ली होती, तो आज हमारी यह दशा कदापि नहीं होती। हमपर भगवान् दया अवश्य करते और अपनी असीम अनुकम्पासे हम सभी शोकोंको पार कर गये होते। जैसे सूर्यके सम्मुख हुआ प्राणी कभी भी प्रकाश और गरमीसे वंचित हो ही नहीं सकता, उसी प्रकार यदि हम एकबार भी भगवान्‌के सम्मुख हो गये होते, निश्चय ही वे हमें जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त कर ही देते।

इसीलिये, इस बार हमें जो मानव-जन्म मिला है, अब उसमें गफलत और भूल नहीं करें। इस मानव-जन्ममें हमें अपने हृदयकी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें डाल ही देना है। सच्ची एवं उत्कट चाह लेकर हमें ऐसा करना ही है। प्रभु कृपामय हैं, वे जब देखेंगे कि इसने अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे पकड़ लिया है और इसकी नीयत शुद्ध है, तो हमारी चाहका प्रतिबिम्ब उनपर अवश्य पड़ेगा ही। हमारे ऐसा करते ही उसी क्षण उनकी कृपा-शक्ति हमारी सारी बाधाएँ हटा देगी और हमें आत्मसात् कर लेगी। हम तत्क्षण अपनेको उनके चरणोंके अत्यन्त निकट पावेंगे।

सन्तोंका एकमत है कि मनकी मलिनता ही भगवान्‌के प्रति सच्ची चाह उत्पन्न नहीं होने देती। हमारा मन शरीर एवं इन्द्रियोंके क्षणभंगुर भोगोंमें लगा है, यही उसकी घोर मलिनता है एवं यही भगवान्‌की सच्ची चाह उत्पन्न करनेमें बाधक है। कठिनाई यही होती है कि अनेक भोगोंकी चाहसे विभ्रान्त मन भगवान्‌की चाह कर ही नहीं पाता।

मनको शुद्ध करनेका इस घोर कलिकालमें एक ही अमोघ उपाय है, वह उपाय है, भगवान्‌की अखण्ड-स्मृतिकी साबुन लगाकर उसे धोना। यह स्मृति

जबतक भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यके ज्ञानसे संयुक्त नहीं होती है, तबतक वह मात्र नाम-रूपात्मक ही तो संभव है। भगवान्‌का रूप भी, जबतक हमारा मन एकाग्र नहीं होता, हमारे सम्मुख प्रकट नहीं हो पाता। अतः हमारे पास एकमात्र यही उपाय शेष बचता है कि हम मात्र नामात्मक ही भगवान्‌की स्मृति करें।

यद्यपि मलिन मन इसमें भी नहीं ही लगेगा, किन्तु इसे जबर्दस्तीसे जिह्वाद्वारा भगवान्‌के नाममें तत्पर करना ही होगा। नाममें यदि हमने अपनी मात्र जिह्वाको ही संलग्न किया, तब भी नाममें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि वह मनको जिह्वाद्वारा खींचकर भगवान्‌में लगा देगा। साथ-ही, यदि हम जिह्वाद्वारा जो भी नाम जपें उसे कहीं कानोंद्वारा सुनने भी लगे, तो सोनेमें सुहागा हो जायेगा।

मेरी तो सभीसे यही विनम्र विनय है कि बिना प्रेम, बिना श्रद्धा ही कोई यदि हठपूर्वक अपनी जिह्वाको भगवन्नामके उच्चारणमें लगा दे और कानोंसे उस उच्चारणको सुनताभर रहे, तो शीघ्र ही मन इसमें ऐसा रस लेने लगेगा कि फिर हिलेगा ही नहीं। हमें मनकी दुष्टताओंकी ओर देखना नहीं चाहिये। मन कहीं भी जाये, भले ही विषयोंमें भागे, यदि जिह्वाने नामका आश्रय नहीं छोड़ा, तो नाम-कृपासे सब कुछ अपने-आप हो जायेगा।

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव कहते थे – "अमृतके कुण्डमें कोई अति श्रद्धापूर्वक, माहात्म्य-बुद्धिसे उतरकर अमृतपान करे, अथवा जानबूझकर जबर्दस्ती कोई अपनेको उस कुण्डमें गिरा दे, या अन्य कोई गर्दन पकड़कर रोने-झींकने, गाली-गलौजकर प्रतिरोध करनेपर भी उसे ढकेल दे, गिरनेवाला किसी भी प्रकार गिरा हो, अमृत-कुण्ड अमरत्व तो उसे देगा ही। इसी प्रकार, भगवान्‌के नामका जीभसे किसी भी प्रकार सम्बन्ध हो जाय, यह सर्वथा दुःखसे छुड़ाकर परम आनन्दघन प्रभुके चरणोंमें ले जायेगा ही।" मैं जिनको भी पत्र लिखता हूँ, उन्हें यही लिखता हूँ, अपनेपर कृपाकर वाणीका संयम कर लें, हँसी, मजाक, प्रमाद, विनोद, गप्पें, कुछ भी काम नहीं आनेवाली, बहुत ही लम्बा रास्ता तय करना है। क्योंकि प्रभुकी सेवाके रूपमें गृहस्थ-सेवा करनी चाहिये, अतः अति आवश्यक होनेपर ही बोलें, शेष समय भगवन्नामकी ध्वनि करते रहें।

सावधान हो जायें, जो श्वास गया वह लौटकर आनेवाला नहीं है। मृत्युका ठिकाना नहीं है, कब आकर यहाँका सब खेल मिटा दे ? अतः अपनी ओरसे पूरी शक्ति लगाकर भगवान्‌को पुकारते जावें ।

हमारी शक्ति चाहे अतिशय क्षीणतम ही क्यों न हो, वह भगवत्कृपाका संबल पाकर इतनी प्रबल हो उठेगी कि दुर्लभ-से-दुर्लभ भगवच्चरणारविन्द

हमारे हृदयमें विराजित हो ही जायेंगे। इसमें अमोघ विश्वास रहे।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं :–

अबलौं नसानी, अब ना नसैहौं ।

राम कृपा भव-निशा सिरानी, जागे फिर ना डसैहौं ।

जो बीत गया, सो बीत गया। मानव-जन्मके जो दो-चार श्वास भी शेष हैं, वे ही भगवन्नामको समर्पित कर दें। भगवान्‌का स्वभाव अतिशय मृदुल है।

जन अवगुन प्रभु देख न काऊ । दीनबन्धु अति सरल सुभाऊ ।।

एक बान करुणानिधानकी । सो प्रिय जाके गति न आनकी ।।

x x x

ऐसी कौन प्रभुकी रीति । विरद लागि पुनीत परिहरि, पामरन पर प्रीति ।।

सन्तोंने भगवान्‌का ऐसा मनोहारी स्वभाव बताया है कि जो भी उस स्वभावको जानभर ले, वह भजन छोड़कर अन्य भाव कर ही नहीं सकता।

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना ।।

मेरा इतना ही कथन है, कि जैसे पंछी दो पंखोंसे उड़ता है, उसी प्रकार भगवत्कृपा और नामस्मरणको अवलम्ब बनाकर हम अपना जीवन भगवान्‌के चरणोंमें डाल दें।

यह संसार, संसारका वातावरण, परिस्थितियाँ, हमको प्रोत्साहित करेंगी, ऐसी सर्वथा आशा नहीं रखें। कलियुगका निरन्तर बढ़ता प्रभाव, साधना करनेवालोंके सामने विपरीतताओंका अम्बार लगा देगा। अतएव अकेले ही बढ़ना होगा। रोकने-टोकने, विरोध करनेवाले सभी होंगे। सहयोग करनेवाला तो दूर, सहयोगकी बात करनेवाला भी कोई विरला ही होगा। कोई कर्तव्यके नामपर, कोई धर्मके नामपर, कोई दयाके नामपर, कोई पुत्र-परिवारके नामपर, अपाहिज-वृद्धजनोंकी सेवाके नामपर, सभी भगवान्‌के पथसे विचलित करना ही चाहेंगे। इसलिये सावधान रहें। सबकी सुनें। विनयपूर्वक सब कुछ करें, परन्तु नामाश्रय किसी भी अवस्थामें नहीं छूटे, यह सतत ध्यान रहे। आपका मन भी नाम छुड़ानेके लिये आपसे अनेक तर्क करेगा। कभी अन्य महत्त्वपूर्ण साधनाओंमें प्रवृत्त करनेकी बात सोचेगा, इसलिये खूब सावधानी रखें। श्रीमद्भागवतमें श्रीदेवहूतिजीकी वाणीका निम्न श्लोक अपने कमरेमें लिखकर रख लें। इसपर आते-जाते ध्यान देते रहें :–

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम् ।

तेपुस्तपस्ते जुहुवः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।।

बड़े आश्चर्य की बात है जिसने भी तुम्हारा नाम लिया, उसने सारी तपस्या कर डाली, यज्ञ कर लिये, तीर्थ-स्नान कर लिया, वेद-पारायण कर

लिया, उसने सभी आर्य-गुणोंका संचय कर लिया। इसलिये जिसकी भी जीभपर तुम्हारा नाम है, वह चाण्डाल होनेपर भी अत्यन्त पूज्य है।

भैया ! इस उपरोक्त श्लोकको पढ़कर मेरे मनमें तो अनेकों बार यह बात दृढ़ होती है कि कलियुगके अनर्थकारी वातावरणमें पलकर हमलोगोंने अपने शास्त्रोंपर भी श्रद्धा नहीं रखी। अन्यथा, यदि श्रीमद्भागवत जैसे ग्रन्थको हम एकबार भी पढ़ लेते, तो हमें भगवान्‌के नामका माहात्म्य तो अवश्य ही समझमें आ जाता; हम फिर तो भूलकर भी भगवान्‌का नाम अपनी जिह्वासे नहीं हटाते।

भैया ! लोग समझते हैं कि शास्त्रोंके वचन अर्थवाद हैं। वे नहीं सोचते कि इन वचनोंको कहनेवाली भगवन्माता देवहूति हैं, जिन्होंने इन अमृत-वचनोंको जगत्‌के अशेष कल्याणकी भावनासे कहे हैं। जिन वचनोंको महर्षि वेदव्यासने अपने समाधिपूत अन्तःकरणमें धारण करके प्रकट किया, वे अर्थवाद अथवा असत्य कदापि नहीं हो सकते। परन्तु हाय ! कलियुगी कालका कैसा विलक्षण प्रभाव है कि हम इन परम पावन मंत्राक्षरोंको पढ़कर भी धारण नहीं करते; इनकी सुनकर उपेक्षा कर देते हैं ?

मेरा तो इतना ही कहना है कि हम कैसे ही रहें भजनको पकड़े रहें। मन नहीं लगे, तो कोई बात नहीं। स्थूल जिह्वाके द्वारा भगवान्‌का नाम लेनेसे विरत नहीं हों। मात्र एक हमारी इन्द्रिय, जिह्वाके भगवान्‌में लगनेसे ही सर्वेश्वर भगवान् हमारे पास आ जावेंगे। वे मात्र आवेंगे ही नहीं, अपितु पूर्ण सर्वतंत्र स्वतंत्र होते हुए भी वे नामके बलपर भजन करनेसे हमारे आधीन हो जावेंगे। श्रीतुलसीदासजी महाराज अपने रामचरितमानस ग्रन्थमें कहते हैं :–

सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ।।

ये रामायणके वचन पूर्ण तत्त्व और सिद्धान्त-सम्मत हैं । और क्या कहूँ, सम्पूर्ण शास्त्र भगवन्नाम महिमासे भरे पड़े हैं। कमी तो हमारी ही है, कि हमने नाम-चिन्तामणिको महत्त्वहीन मानकर उपेक्षासे त्याग रखा है। उसकी स्वीकृतिमें हमारी तत्परता ही अपेक्षणीय है।

आपका

चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - दस (१०)

बेटी किशुनपियारीका भगवद्धाम-प्रवेश

पत्र-लेखक :

प. पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र-प्रेषिति :

श्रीबड़के भैया

ग्राम, पो. फखरपुर (गया) (बिहार)

प्रेषण-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम रतनगढ़ (बीकानेर)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपिसे

दिनांक :
भाद्रपद शुक्ला द्वादशी, सं. १९९७ वि.

पूज्य बड़के भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला। आपने किशुनपियारीकी मृत्युके सम्बन्धमें लिखा। उसकी मृत्युके समय घरके सभी लोगोंने भगवन्नाम संकीर्त्तन किया, सो विश्वास रखना चाहिये, उसका निश्चय-निश्चय परम मंगल हुआ है।

यह बात सदा ध्यानमें रखें कि मृत्यु एवं जीवन, दोनोंपर नियंत्रण रखनेवाले एकमात्र भगवान् हैं। नाम-भगवान् और नामी-भगवान्में कहीं किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। जहाँ भगवान्का नाम है, वहाँ भगवान्का आंशिक नहीं, पूर्ण प्रकाश है। यह हमारी श्रद्धाकी न्यूनता ही है कि हमें नाममें भगवान्का सम्पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। आप मेरी बात पर पूरा-पूरा विश्वास कर लें कि भगवन्नामके सान्निध्यमें हुई मृत्यु वैसी ही मंगलमयी है जैसी कि भगवान् रामके सान्निध्यमें उनकी गोदमें जटायुकी मृत्यु हुई थी। जैसे भगवान्की गोदमें मरते जटायुको भगवान् श्रीरामने अपने धाम, अपने पिता दशरथजीके पास भेज दिया था, वैसे ही भगवन्नामने भी किशुनपियारीको मरनेके पश्चात् उसी भगवद्धाममें पहुँचा दिया है, जहाँ जाकर कोई भी व्यक्ति पुनः जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं पड़ता। आपलोग मेरे विश्वासको अपना विश्वास नहीं बनावें, यह तो आप जानें, परन्तु मुझे तो इसमें कहीं कोई संशय नहीं है

कि किशुनपियारीकी भगवान्‌के नामने वही सद्गति की है, जो ऊँचे-से-ऊँचे सिद्ध भगवद्भक्तकी हो सकती है।

जिस महाभाग्यवान् प्राणीकी मृत्यु भगवन्नामकी गोदीमें हो, उसकी कितनी आनन्दमयी, सर्वमंगलकारी स्थिति है, इसकी कल्पना भी हम सबको नहीं है। हमने अभीतक कभी किसीकी भी वैसी मंगलमयी परिस्थिति देखी नहीं है । हमें तो कभी ऐसे सौभाग्यका आंशिक अनुभव भी नहीं हुआ है। हम इतने अभागे हैं कि हमने 'मंगलमय' नाम-भर सुना है। हमने मंगल एवं आनन्दका अनुभव ही कहाँ किया है ? जैसे गुड़का नाम-भर सुननेसे गुड़के स्वादकी कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार 'मंगलमय', 'शिव', 'कल्याणमय', 'आनन्दमय', 'सच्चिदानन्द' आदि नामोंका श्रवण करनेसे ही उन भावोंकी कल्पना नहीं होती। जब भगवान्‌का परम मंगलमय नाम लेते-लेते भगवत्कृपासे भाग्यवान् साधक उनकी विशुद्ध मंगलमयताका स्वाद चखता है, भागवती-आनन्दमें पूरा सिक्त हो जाता है, तभी उसे अनुभव होता है – भगवत्सान्निध्यकी परम मंगलमयी एवं घन-आनन्दमयी स्थिति कैसी होती है। किशुनपियारीकी मृत्यु में अमंगलकी सर्वथा ही कल्पना नहीं करें; ऐसी मृत्यु ऋषिमुनियोंको भी दुर्लभ है।

हाँ, यदि हम चाहें तो स्वयं जीवित रहते हुए ही अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पितकर जीवन्मुक्ति-रूप मृत्युका आनन्द ले सकते हैं। सच्चे भगवत्प्रेमीजन इस जीवित मृत्युको वरणकर प्रभु प्रेममें छलकते रहते हैं। प्रेमियोंका जीवन जहाँ प्रभु-प्रेममें छका व्यतीत होता है, उनकी मृत्यु भी उन्हें अपने प्रियतम प्रभुके निकट पहुँचानेवाली होती है।

अवश्य ही ऐसा लिखना-पढ़ना आसान है, वास्तविक मृत्युको इस रूपमें वरण करना अत्यंत ही कठिन है। परन्तु सचमुच ही यदि हम भगवन्नाम एवं भगवत्कृपाको अपना संबल बना लें, तो हमारे लिये कुछ भी असंभव नहीं है।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - इग्यारह (११)

पू. भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका छायावत् संग

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(प. पू. राधाबाबाके नामसे विख्यात)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र, श्रीतारादत्तजी मिश्र

ग्राम एवं पो. फखरपुर (गया)(बिहार)

लेखन-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम एवं पो. रतनगढ़, (बीकानेर)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

दिनांक :
आश्विन कृष्णा ४, सं. १९९७ वि.

पूज्य देवदत्त एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । आप दोनों भ्राताओंके अत्यन्त प्रेम-भरे पत्र प्राप्त हुए। किशुनपियारीके निमित्तसे भागवत-सप्ताहके अवसरपर आप लोगोंने मुझे ग्राममें बुलाया, आप लोगोंद्वारा ऐसा करना परम स्वाभाविक ही है। मेरे प्रति आप सभी भाइयोंने जैसा प्रेम एवं त्यागका भाव सदा रखा है और उस सम्बन्धको जैसा अबतक निभाया है, उसकी तुलनामें मेरा आचरण सदा ही हेय एवं तुच्छ ही रहा है। इसका कारण कुछ तो मेरी बाल्यावस्था रही एवं कुछ मूर्खता ही समझ लीजिये। यह बात मैं शिष्टाचार अथवा आपकी प्रसन्नताके लिये नहीं लिख रहा हूँ, अपितु ऐसी वस्तुस्थिति ही सर्वथा सदा रही है।

हम लोगोंने जिस प्रेमसे अपने जीवनके इतने दिवस बिताये, उस निस्वार्थी प्रेम-भावका पर्यवसान वास्तवमें भगवान्में ही निहित होना चाहिये। जगत्में किसीका भी किसीके प्रति प्रेम यदि भगवान्में उसे जोड़नेमें हेतु नहीं होता, वह प्रेम सुखान्त कभी नहीं हो सकता। सच्चे प्रेमका अर्थ ही है कि वह हमें भगवान्से एकमेक कर दे। यदि उसकी गति वैसी नहीं होती, तो वह प्रेम निरर्थक एवं दुःखान्त ही होगा। प्रेमके नामपर वहाँ अवश्य ही आत्मेन्द्रिय प्रीतिकी वासना ही काम कर रही है; इसलिये बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

जगत्में आज जो इतना दुःख, दैन्य, निराशा, विश्वासघात, स्वार्थपरता, नृशंसता आदि बढ़ रही है, उसका मूल हेतु यही है कि भगवान्के अस्तित्वपर हमारा क्रियात्मक विश्वास ही उठ गया है। भगवान्के विषयमें हम लोग परस्पर कहते-सुनते हैं, दूसरोंको उपदेश भी देते हैं, परन्तु हमारा कहना-सुनना, उपदेश देना, सभी मात्र ऊपरी जिह्वा एवं कर्णेन्द्रियोंका व्यापार-भर रह जाता है। वह हमारा जीवन नहीं बनता। जो वस्तु हमारा जीवन नहीं बन पायी है, उसपर हमें सत्यांशमें विश्वास कहाँ है ? जिनपर भी हमारा सत्यांशमें विश्वास है, वे हैं — बन्धु-बान्धव, पत्नी-पुत्र-परिवार, धन-मान-प्रतिष्ठा, खेत-खलिहान, इन सबके लिये ही हमारा जीवन समग्रतासे समर्पित हो रहा है।

मैं दूसरोंको तो उपदेश दूँ और स्वयं अपने जीवनको अपने ही कथनके क्रियात्मक प्रयोगसे वंचित रखूँ, यह धाँधलेबाजी एवं दांभिक आचरण मुझे तो कदापि वांछनीय नहीं है। मैं तो सदासे इसी बातका पक्षधर रहा हूँ कि जबतक मैं भगवान्की सत्ताको पूरा नहीं मानता एवं जानता, मुझे उसका दूसरोंको उपदेश कदापि नहीं करना चाहिये और जब मैं उनका उपदेश अन्यको कर रहा हूँ, तो फिर मेरा समग्र जीवन ही भगवान्के चरणोंमें पूर्ण समर्पित होना चाहिये। यदि इसके लिये मुझे सारे जगत्का त्याग करना पड़े, तो प्रभु-विश्वासके लिये सब कुछका त्याग हँसते-हँसते कर देना चाहिये। जब मृत्यु किसी दिन अवश्यंभावी ही है, तो फिर इस त्यागमें हिचकिचाहट कैसी ?

जब भगवान्पर मुझे विश्वास करना ही है, तो सर्वतोभावेन पूरा ही करना है। भगवान्को अपने जीवनमें आंशिक रूपसे रखना मुझे सर्वथा स्वीकार्य नहीं है। यदि भगवान् हैं और वे हैं ही, तो वे मेरे जीवनमें फिर पूरे ही अवतरित हों। भगवान्के अतिरिक्त मेरे जीवनमें अन्य कुछ भी नहीं हो। मेरे सर्व ओर सब समय भगवान्-ही-भगवान् भरे रहें। मेरा उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना, सब कुछ भगवान्में ही हो। कुछ अंश जगत् एवं कुछ अंश भगवान् — यह मुझे कदापि स्वीकार्य नहीं है। ऐसी मेरी सदासे निष्ठा रही है।

आजके पाँच वर्ष पूर्व, जब मैं बाँकुड़ा जाकर सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे मिला था, तो उन्होंने मुझसे बातों-ही-बातोंमें कहा था कि — "स्वामीजी ! मुझे ऐसा साधु आजतक देखनेमें नहीं आया, जिसके जीवनमें असत्से सामंजस्य नहीं हो। मैं चाहता हूँ कि आप अपने जीवनमें जिस भी वस्तुको असत् मान लें, उससे सामंजस्य कदापि नहीं करें। किसी निर्बलतावश वह असत् आचरण आपके जीवनमें बना रहे, यह कदापि नहीं हो। जब भगवान्का बल हमारे पास है, तो हमारे जीवनमें असत् क्यों रहे ?"

श्रीजयदयालजी-जैसे महान् कृपालु महापुरुषको उस दिन मैंने मन-ही-मन यही आश्वासन दिया था कि भगवत्कृपाके बलपर आप मेरा जीवन सौटंच ऐसा ही पावेंगे; तो अपने जीवनकी सर्वतोमुखी भगवान्‌की ओर गति करनेके परम पवित्र उद्देश्यसे ही मैं भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास यावज्जीवन रहनेका व्रत लिये हूँ और रह रहा हूँ ।

भगवान्‌की इच्छासे श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके साथ मेरा जीवन-व्यापी संग नहीं हो सके, एक क्षणके पश्चात् दूसरे क्षण क्या घटित होनेवाला है, इसकी सूचना तो मात्र जगन्नियन्ता प्रभुको ही होना संभव है। परन्तु जबतक जगन्नियन्ताकी मरजी ऐसी ही है, भाईजीको छोड़कर एक कदम भी इधर-उधर होनेका मेरा न तो संकल्प ही है, न ही मेरी रुचि।

ऐसे अवसर अनेकों बार आये हैं, जब सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका आग्रह मुझे अपने साथ रखनेका रहा। वे मुझे भाईजीके पाससे हटाकर सत्संग करवाने इधर-उधर भेजना चाहते थे। परन्तु सर्वथा इन्हीं विशुद्ध पारमार्थिक कारणोंसे बाध्य होकर मैंने उनसे प्रार्थना कर-कराके छुट्टी ले ली।

वैसे श्रीजयदयालजी भी असाधारण कोटिके महापुरुष हैं। श्री जयदयालजीके मेरे ऊपर अपार पारमार्थिक ऋण हैं। सच कहता हूँ कि मुझे उनके चरणोंमें सदा-सदाके लिये न्यौछावर ही हो जाना चाहिये। परन्तु, मैंने श्रीजयदयालजीके सदाग्रहको भी ठुकराकर अपने-आपको भाईजीके साथ जोड़ा है, इसमें अवश्य ही अनेक अलौकिक पारमार्थिक कारण हैं, जिन्हें मैं जीवनमें किसीको भी नहीं बता सकता। इन पारमार्थिक कारणोंसे ही मैं आपलोगोंके भागवत-सप्ताहके आमंत्रणको ठुकरा रहा हूँ। मैं इस अवसरपर फखरपुर नहीं आ पाऊँगा। मेरे फखरपुर नहीं आनेके व्रतमें विश्वास करें – अत्यन्त मंगल-ही-मंगल भरा है।

संभव है, मेरे इस पत्रसे आप लोगोंके प्रेम-भरे हृदयको ठेस पहुँचे। आप लोग मुझसे विशुद्ध पारमार्थिक भावसे ही मिलना चाहते हैं, मेरे साथ रहनेसे भजन-सत्संगमें आप सभीका उत्साह बढ़ेगा। ये सभी बातें सत्य हैं, परन्तु भगवान्‌ने सभीके लिये पृथक्-पृथक् रास्ते बनाये हैं। जिनकी कृपामयी प्रेरणासे आपलोग सुदुर्लभ श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा-सत्रका सुसंयोग प्राप्त करने जा रहे हैं, उनकी कृपामयी प्रेरणाने मुझे उससे वंचितकर भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार जैसे सन्तसे छायावत् जुड़े रहनेकी प्रेरणा दी है। प्रत्येक विधानमें हम भगवान्‌का मंगलमय वरद-हस्त देख सकें, तो हमें हँसी ही आयेगी।

विश्वास करें, श्रीभाईजीसे मेरा संग किसी भी लोक-व्यवहारके हेतुसे कदापि नहीं है। आप लोगोंसे नहीं मिलनेमें कोई लौकिक अड़चन हो, सो बात

भी नहीं है। बड़े मजेमें श्रीभाईजी मेरे आने-जानेका टिकट कटा सकते हैं। परन्तु, सच्ची बात यह है कि न तो मैं कारण ही बता सकता हूँ और न ही श्रीभाईजीको छोड़कर मैं कहीं भी आ-जा ही सकूँगा। कल क्या होगा, इसका पता नहीं।

मैं पिछले किन्हीं पत्रोंमें यह बात लिख भी चुका हूँ कि श्रीभाईजीके अनुग्रहसे ही मुझे परमतत्त्वके परमसार भगवान्‌के सगुण-साकारस्वरूपका अनुभव हुआ है। कर्तुम्-अकर्तुम-अन्यथाकर्तुं समर्थ भगवान् जिसके अधिकारमें हों, जो अपनी सत्प्रेरणासे किसीको भगवत्प्रेम-दान करनेमें समर्थ हो, किसी भी मरणातुर व्यक्तिको जो हाथ पकड़कर भगवान्‌के दर्शन दिलाकर उसे भगवद्धामकी यात्रा करानेमें समर्थ हो, आप लोग कल्पना कर लें कि ऐसे व्यक्तिके जीवन-व्यापी छायावत् संग रहनेकी मेरी कामना किस हेतुसे होनी संभव है ?

छोटका भैया, बड़के भैया आदि सभीको मेरा यही सन्देश दे दीजिये कि वे अति उत्साहपूर्वक श्रीमद्भागवत-कथा सुनें। श्रीमद्भागवत-कथा सुननेवालोंके लिए जो परमावश्यक नियम हैं, वे भी वे अवश्य पालन करें। श्रीमद्भागवत भगवान्‌का साक्षात् वाङ्मय स्वरूप ही है। अतः श्रीमद्भागवत-श्रवणके समय चित्तको स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब, घर-खेत-खलिहान, सबसे हटाकर भगवान्‌में लगा दें। संसारको सर्वथा असत्य एवं शरीरको मृत्युके साथ ही लुप्त हो जानेवाला, क्षणभंगुर, स्वप्नतुल्य समझते हुए एकमात्र भगवान्‌को ही सार-की-सार वस्तु समझें। मनमें निरन्तर भगवान्‌को बसाया रखें। श्रीमद्भागवत कथामें जहाँ भी भगवान्‌के परम मंगलमय यश एवं चरित्रोंका वर्णन आवे, उन्हें पूर्ण एकाग्र-चित्तसे जैसे अपने समक्ष ही भगवान्‌की वह लीला हो रही है, इस भावसे उस लीलाको जीवन्त मानते हुए सुनें। जहाँ भगवान्‌के स्तुति-प्रसङ्ग आवें, उनमें भी पूर्ण एकाग्र चित्तसे सभी तात्त्विक रहस्योंको चित्तमें धारण करनेकी चेष्टा करें। जो भी तत्त्व-रहस्य समझमें नहीं आवें, उन्हें वक्तासे बार-बार पूछनेमें संकोच नहीं करें शंका-समाधानद्वारा अपनी सभी जिज्ञासाएँ निवृत्त कर लें। इसके उपरान्त कथा-श्रवणके पश्चात् जब भी विश्रामकाल हो, तो जो बातें कथामें सुनी हैं उनका पूर्णरूपसे पुनः पुनः मनन करें। यदि कहीं शंका रह जाती हो, तो उसका फिर दूसरे दिवस समाधान करें। इस प्रकार पूरे कथा-कालमें अखण्ड भगवान्‌का स्मरण रहे, एक क्षण भी उससे विमुख एवं विरत नहीं हों। यदि इस प्रकार कथा-श्रवण की जायेगी तो सभी श्रोताओंका निश्चय ही जीवन धन्य हो जायेगा और वक्ता भी कृतकृत्य हो जावेंगे। सत्यांशमें मेरी परिस्थितिको, बातको समझना भगवत्कृपा-सापेक्ष है। मैं बार-बार अपनी अवहेलनाओंसे आपका हृदय चूर-चूर करता रहा हूँ, अतः क्षमाप्रार्थी हूँ ।

आपका - चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या- बारह (१२)

पूज्या माँकी सच्ची सेवा

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीतारादत्त मिश्र

ग्राम. पो. फखरपुर (गया) (बिहार)

लेखन-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्रसंग्रहकी कापीकी प्रतिलिपि

दिनांक :
आश्विन कृष्णा, अष्टमी, सं. १९९७ वि.

पू. तारादत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला । भैया ! माँके विशुद्ध प्यारकी स्मृति मेरे चित्तमें कितनी ही बार उठती है; फिल्मकी तरह मनपर चित्र बन जाते हैं। मैं अपनी उस समयकी व्यथा किसीके भी सम्मुख प्रकट नहीं कर सकता। मुझे माँकी ओरसे मात्र शुद्ध प्रेम-ही-प्रेम मिला और मैं तो उसे बार-बार घोर तिरस्कृत ही करता रहा। मेरे चित्त-पटलपर इस प्रकारकी अनेकों घटनाएँ जब उभरती हैं, उस समय मेरी कैसी दशा होती है, मैं समझा नहीं सकता। मेरे अन्दर उन दिनों लड़कपना था, मूर्खता और प्रमादवश ही कहें – सचमुच ही मुझसे माँकी लौकिक सेवा बन नहीं सकी।

भैया ! आपके पत्रका एक-एक अक्षर सत्य है। मैंने माँका सबसे अधिक दूध पिया, सबसे अधिक प्यार पाया है। आज वह मुझसे मात्र मिलनेके लिये, मुझे देखनेके लिए तरस रही है, उसकी शरीर-दशा रुग्णताके कारण अत्यंत नाजुक है, संभव है, यह उसकी अन्तिम-दशा ही हो, परन्तु मेरा दृढ़ निश्चय है कि मैं ऐसी हालतमें भी उससे मिलने नहीं ही आ पाऊँगा। निश्चय ही, मेरा यह व्यवहार आप सभीकी दृष्टिमें, साथ ही ग्रामवासियोंकी दृष्टिमें भी – नीचतासे

भरा हुआ, निर्दयी, मातृघाती एवं घृण्य होगा। मेरे इस महानीच कृत्यकी मैं कोई सफाई दे सकूँ और वह सभीके गले उतर जाय, यह मेरा व्यर्थ प्रयास ही होगा।

मेरे इस व्यवहारको देखकर कुछलोग मुझसे घृणा कर सकते हैं, कुछलोग मेरी ऊपरी यति-धर्म-जन्य रहनीसे प्रभावित हुए मेरी प्रशंसा भी कर सकते हैं। परन्तु वे सब भी अंधेरेमें ही अपना-अपना अनुमान करेंगे। मेरे माँके पास न आनेका वास्तविक कारण तो उन्हें अज्ञात ही रहेगा। मुझे तो प्रशंसा और निन्दा दोनों ही सिर नवाकर स्वीकार करनी है।

आप मुझे इतना स्नेह करते हैं कि मेरी बातोंपर बालकपनसे ही आपको अटूट विश्वास है। आपके निश्छल, निष्कपट पत्रको पढ़कर कुछ सैद्धान्तिक बातें मात्र लिख रहा हूँ । परन्तु ये बातें, जो मैं लिख रहा हूँ, मेरे माँसे नहीं मिलनेका कारण सर्वथा नहीं हैं। ये बातें तो मैं आपके परम सुकोमल हृदयको कुछ शान्ति पहुँचानेके उद्देश्यसे ही लिख रहा हूँ।

मैं एवं माँ – दोनों ही न जाने कितने कालसे इस माया-चक्रमें पड़े अनन्त यातनाएँ भोग रहे थे। माँकी शारीरिक सेवा भी अनन्त जन्मोंमें अनेक पुत्रोंने अवश्यमेव की भी हो सकती है। इस जन्ममें मेरेद्वारा न सही, आपकेद्वारा माँकी भरपूर नहीं, तो आंशिक सेवा तो अवश्य हुई ही होगी। परन्तु उसकी आध्यात्मिक सेवा किसीके भी द्वारा किसी भी जन्ममें आज तक नहीं ही हो सकी है। यदि यह सेवा हुई होती, तो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे श्रीमद्भगवद्गीताकी इस वाणीके अनुसार उनका फिर जन्म कदापि नहीं होता :–

''मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।

''मुझे प्राप्तकर महात्मा लोग परम-गतिरूपा महासिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं और उनका इस दुःखालय एवं क्षणभंगुर संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता।

भैया ! मैं इतनी बड़ी बात आपको अपने मुखसे अपनी प्रशंसाके रूपमें कैसे कहूँ, परन्तु प्रभु-कृपा इस रूपमें भी तो होनी संभव है ही कि उनकी परम पावन कृपामयी दृष्टि माँपर पड़ी हो और वे माँको अपने पास बुलानेमें हेतुरूपमें मुझे ही निमित्त बना रहे हों। और ऐसा होना भी तो संभव है कि इसी निमित्तसे प्रभु मुझे फखरपुर जाकर माँसे मिलनेका निषेध कर रहे हों। उस अवस्थामें अपने मोहवश मैं प्रभुके इस पुनीत आदेशको ठुकराकर फखरपुर चला जाऊँ, तो मेरे जैसा अभागा मातृघाती और कौन होगा ? अभी अधिक-से-अधिक आप एवं ग्रामके परिजन ही मुझे कृतघ्न, कठोर एवं ढोंगी कहेंगे, परन्तु आप लोगोंके इन दुर्निवार आक्षेपोंको सुनकर भी कहीं श्रीकृष्ण मुझे स्वीकार कर लें और मेरे

हेतुसे माँको परमगति प्रदान करते हुए अपने धाममें अपनी सेवा प्रदान कर दें, तो मैं कितना असीम भाग्यवान् होऊँगा, यह बात मैं सर्वथा भूल नहीं गया हूँ। परन्तु, अब हृदयमें ऐसी बात ही जड़ पकड़ रही है कि "हे परम कृपालु स्वामिन्! मूर्खता एवं अभिमानवश मैंने बहुत-सी मूर्खताएँ की हैं; अनेक वचन दे दिये हैं। अब भी अभिमानवश बहुत-सी अहंकारभरी बातें करता रहता हूँ। परन्तु, मेरे नाथ ! तुम जिस विधानसे प्रसन्न होओ, वही विधान हम सभीके लिये हो, मेरी सभी प्रतिज्ञाएँ तोड़नेमें ही यदि आपकी प्रसन्नता हो, तो हे प्रभो ! आप अति निर्ममतापूर्वक उन्हें तोड़ डालो। मेरे पूरे अभिमानको चूर-चूर कर डालो। इसी क्षण मेरे अहंको चूर-चूर कर दो। आपकी मंगलमयी इच्छा पूर्ण हो।"

"नाथ ! मेरी बुद्धिका क्या ? वह आपकी इच्छाको परम अमंगलमयी भी मान सकती है, तब भी आपकी वह परम अमंगलमयी इच्छा भी अवश्यमेव पूर्ण हो। अन्तर्यामिन् ! आपसे कभी कुछ भी छिपा नहीं रह सकता। हो सकता है, मेरी यह प्रार्थना भी सच्चे हृदयसे नहीं की गयी हो, क्योंकि हृदय अपने मनके प्रतिकूल विधानको सहर्ष स्वीकार करनेको कदापि प्रस्तुत नहीं होता। परन्तु आप अनन्त कृपामय हो। मेरी इस मौखिक प्रार्थनाके आधारपर ही मनमानी कर लेना । प्रभो ! करना वही जिसमें आपकी पूर्ण रुचि एवं प्रसन्नता हो। प्रभो ! मैं ऐसा ही बनूँ कि आपकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता सदा रहे।"

आप कह सकते हैं कि प्रभु परम दयालु हैं, वे किसीकी तरसती माँसे नहीं मिलनेकी निर्दय इच्छा कदापि नहीं कर सकते तो आप यही समझ लीजिये कि मैं प्रभुकी इच्छाके नामपर अपने किसी अहंकारका ही पोषण कर रहा हूँ। परन्तु मेरी यह भूल भी तभी सुधरेगी जब मेरे उर-प्रेरक राधाकृष्ण मेरी भूल मिटायेंगे। अभी तो मेरी मन-बुद्धि यही निर्णय कर रही है कि मैं मेरे प्रिया-प्रियतम् राधाकृष्णकी इच्छाका ही अनुसरण कर रहा हूँ और इससे मेरा और माँ दोनोंका अशेष मंगल है।

कभी साक्षात् मिलनेपर इस संबंधमें अनेक बातें कहनेका विचार है, परन्तु यह बात भी विचारणीय है कि मेरी बातोंको आप समझ सकेंगे या नहीं। प्रभु-कृपाके बिना सुनी-समझी बात भी चित्त ग्रहण नहीं करता।

महात्माओंसे हम लोगोंने न-जाने कितनी ही बार सुना है कि विश्वके अणु-अणुमें प्रभुका निवास है, ऐसी कोई भूमि ही नहीं जहाँ प्रभु नहीं हों। महात्मालोग मात्र ऐसा कहते ही हों, सो भी बात नहीं। उन्हें तो साक्षात् सत्य एवं सर्वत्र भगवान्के दर्शन होते हैं। परन्तु क्या उनकी सर्वथा सत्य-की-सत्य बात सुनकर भी हम उनके इस कथनका मर्म ग्रहण कर पाते हैं ? यदि हमारा

चित्त उनके इस कथनका पूरा-पूरा मर्म ग्रहण कर पाता, तो हमें भी तत्क्षण इस जगत्में परिपूर्ण भगवान्‌के दर्शन होने लग जाते। ऐसा क्यों नहीं होता, इसका वास्तविक कारण तो प्रभु ही जानें, परन्तु महात्मालोग इसका स्थूल कारण यही बताते हैं कि अन्तःकरणकी मलिनतावश उसमें सत्यके मर्मको ग्रहण करनेकी योग्यताका अभाव हो जाता है। स्वच्छ अन्तःकरणमें ही सत्यके प्रकाशको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य होती है। सत्य वस्तु एक परमात्मा ही है, परन्तु ग्रहण-शक्तिकी मलिनतासे वही परमात्मा जगत्‌रूपमें भासित हो रहा है।

मुझे यही संकोच है । प्रभु-कृपासे मेरे हृदयमें जो भी कृपाका मर्म प्रकट हुआ है, इस सम्बन्धमें मैं किसीको भी कुछ कहूँ, तो मेरे शब्द तो भले ही कोई कानोंमें डाल ले, परन्तु वास्तविक स्थिति तो वह तभी समझ सकता है जबकि ठीक भगवान्‌ने मुझे जहाँ रख छोड़ा है, वहीं उसे भी ले जाकर रख दें। सारांश यही है कि साक्षात् मिलनेके समय वार्त्तालाप करते समय तो भले ही मैं थोड़ी-सी आशा कर लूँ कि आपको मेरे मनकी स्थितिका आंशिक प्रकाश मिल जाए, पत्राचारसे तो वह बात समझायी जा ही नहीं सकती।

अन्तमें एक बात कहकर यह पत्र समाप्त कर रहा हूँ। मैं अपने प्राणोंकी पूरी शक्ति लगाकर अपने हृदयमें उमड़ते माँके मोह-ममताके भावोंको निर्ममतापूर्वक कुचल रहा हूँ। वे महाकृपालु प्रभु ही मुझे संबल देकर अपनी इच्छाके साँचेमें ढाल रहे हैं, अन्यथा मैं इतना कठोर आचरण कर ही नहीं सकता था। भैया ! मैं मानता हूँ कि माँको मेरा वियोग असह्य है, किन्तु यदि मैं श्रीकृष्णका भजन करता हुआ उनके चरणोंमें न्यौछावर हो गया, तो माँकी अपने-आप ऐसी सेवा हो जायेगी कि माँ बिना परिश्रमके ही उस नित्य सुखको प्राप्त कर लेगी – जैसा सुख मेरी अनन्त जन्मोंकी सेवासे भी वह कदापि प्राप्त नहीं कर पाती। वे मुझे आशीर्वाद दें कि मैं भगवान् राधाकृष्णकी सेवामें समर्पित हो जाऊँ और उनका गर्भधारण सफल हो।

आपके हृदयको यदि कोई ठेस इस पत्रसे लगी हो, तो क्षमा करेंगे ।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - तेरह (१३)

भगवन्नाम-महिमा एवं नामीसे नामकी एकता

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र, श्रीतारादत्तजी मिश्र

ग्राम एवं पो. फखरपुर (गया) (बिहार)

लेखन-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी
हवेली, ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

दिनांक :
उल्लेख नहीं

पूज्य देवदत्त एवं तारादत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । सन्त लोग भगवान्‌के नामकी तुलना देवमणि पारस पत्थरके साथ करते हैं, परन्तु सच्ची बात यही है कि भगवान्‌का नाम इतना अनमोल है कि उसकी तुलना किसी त्रिगुणात्मक-जागतिक अथवा देवजगत्‌के दिव्य पदार्थसे हो ही नहीं सकती। भगवान् और भगवान्‌का नाम दोनों ही चिन्मय हैं। नाम एवं नामीमें अभेद है, यह बात सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आ सकती। बड़े-से-बड़ा पढ़ा-लिखा पंडित भी नामको प्राकृत प्राणोंके संघातसे उत्पन्न, मात्र शब्द ही मानेगा। शब्द तो जड़ शरीरके द्वारा ही उच्चारित होता है, फिर चाहे वह कोई गाली हो अथवा राम, कृष्ण, दुर्गा, शिव, विष्णु, नारायणादि कोई भगवान्‌का नाम। विद्वान् तो भगवान्‌के नामको इतना ही महत्त्व देते हैं कि यह भगवद्वाची होनेसे भगवद्धारणामें हेतु अथवा प्रेरक-भर हो सकता है। विद्वानोंको तो यह भी समझमें नहीं आता कि भगवान्‌का विग्रह (शरीर) लौकिक नहीं है। इसीलिये वे उसे मायोपाधिक मानते हैं। अनेक, लोग प्राकृत शरीरधारी-गुरुको भी भगवान् मान लेते हैं। वे गुरुके प्राकृत शरीर और भगवान्‌के विग्रहको समान मानकर उनसे अपने गुरुके प्राकृत शरीरकी एकता

समझने लगते हैं।

परन्तु जब भजन करते-करते चित्त अति शुद्ध हो जाता है और भगवत्कृपाका प्रकाश होने लगता है, तभी यह बात सही रूपमें गले उतरती है कि भगवान्का सगुण-साकार स्वरूप समग्र रूपमें पूर्ण चिन्मय एवं अप्राकृत है। विग्रहके साथ ही भगवान्का प्रत्येक रोम भी पूर्ण भगवान् है। भगवान्का तेज परब्रह्म परमात्मा है और जिस प्रकार भगवान्का सगुण-साकार रूप चिन्मय है, उसी प्रकार भगवान्का नाम, भगवान्के गुण, उनकी लीला एवं धाम भी पूर्ण चिन्मय हैं।

उसी समय यह रहस्य भी प्रकट होता है कि भगवान्का नाम भी भगवान्के स्वरूपके समान ही सर्वकर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं समर्थ है। मृत्युके समय जो सद्गति एवं जो प्रभाव भगवान्के साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देनेसे संभव है, वही सांगोपांग प्रभाव एवं सद्गति भगवान्का नाम भी देनेमें समर्थ है।

उसी समय यह भी अनुभव होता है कि हमारे मुखसे निकला प्रत्येक भगवान्का नाम, चाहे वह भाव-कुभाव, आलस्य, एवं प्रमादमें ही निकला हो, उसने हमको उसी प्रकार भगवत्सत्तासे एकमेक किया है, जैसे साक्षात् भगवान् हमको अपना दर्शन देकर एकात्म करते। नामकी भी वही महिमा, वही प्रभाव, वही फल, वही तत्त्व, वही रहस्य है — जो साक्षात् भगवान्के दर्शनका है।

मान लो, हमें साक्षात् भगवान् दर्शन दे जावें और अज्ञानवश उन्हें नहीं पहचाननेके कारण दर्शनके समय संयुक्त होकर भी जैसे हम अपनेको उनसे असंयुक्त ही अनुभव करते रहें, उसी प्रकार अश्रद्धा एवं नाम-महिमाको नहीं जाननेसे एवं मध्यमें अज्ञानका, अपरिचयका आवरण आ जानेसे ही हम भगवन्नामका अनवरत जप करते हुए भी नाम-भगवान्की चिन्मयता और नामजन्य अनन्त आनन्दको अनुभव नहीं कर पाते।

बहुत-सी भक्त-गाथाओंमें ऐसी घटनाएँ आती हैं कि साक्षात् भगवान् प्रकट होकर उनका कार्य कर जाते हैं, परन्तु भक्त उन्हें अपरिचयवश साधारण मनुष्य मान बैठते हैं। इस अपरिचय-अवस्थामें साक्षात् भगवान्का भी प्रभाव एवं माहात्म्य जैसे छिपा रह जाता है, उसी प्रकार अपरिचय एवं माहात्म्यपर श्रद्धा-विश्वास नहीं होनेसे भगवान्के नामका प्रभाव भी हमारे सम्मुख प्रकट नहीं हो पाता है।

इसे इस सच्ची घटनाके संदर्भमें सम्यक्-प्रकारसे समझ लें।

वृन्दावनमें एक बहुत ही उच्चकोटिके त्यागी महात्मा रहते थे। वे वास्तविक विरक्त थे और भगवद्भजनमें इतने डूबे रहते थे कि उन्हें भोजनकी सुधि ही नहीं रहती थी। एक दिवस उन्हें भगवत्कृपासे एक पारस पत्थर प्राप्त हो गया। उन

परम-विरक्त महात्माको भगवद्भजन छोड़कर उस पारससे क्या मोह होता ? उन्हें शरीर एवं इन्द्रियोंके विषय तो चाहिये थे नहीं। कुटियामें भगवद्भजन तो उनसे हो ही रहा था, अतः उन्होंने अत्यंत उपेक्षासे उस पारस पत्थरको देव-मणि मानकर एक लोहेकी डिबियामें एक कपड़ेका बिछौना-सा बनाकर रख दिया। वे तो उसकी ओर ताकते-झाँकते ही नहीं थे। व्रजवासियों द्वारा प्राप्त रूखी-सूखी भिक्षासे ही वे पूर्ण संतुष्ट थे। इधर भजन करते-करते महात्मा वृद्ध एवं रुग्ण हो चले। उन्हें शरीर-सेवाकी आवश्यकता हो गयी। भगवान्‌को तो भक्तोंके योगक्षेमकी चिन्ता होती ही है। महात्मा तो परम विरक्त थे। वे रुग्णताके कारण शारीरिक असमर्थतावश न तो भिक्षा करने ग्रामवासियोंके घरोंतक जा सकते थे, न ही यमुनाजीसे पीनेके लिये जल ही ला पाते थे। बिचारे भूखे-प्यासे ही बैठे-बैठे भजन करते रहते। अब भगवान्‌के लिये भक्तका कष्ट असह्य हो गया। कुछ समयतक तो भगवान्‌को सेवकका रूप रखकर महात्माजीकी स्वयं सेवा करनी पड़ी। अब प्रभुने महात्माजीकी स्थायी सेवा-व्यवस्था करनेकी ठानी। उन्होंने एक लोभी, परन्तु भगवद्भक्तको स्वप्नमें प्रकट होकर आदेश दिया कि इन परम विरक्त महात्माके पास पारस पत्थर है, तू इनकी सेवाकर और इनकी कुटियासे पारस पत्थर चुरा ले। ये तो परम विरक्त रुग्ण-शरीर हैं, तू इनकी सेवाके बहाने, इनकी कुटियामें खोज कर ले और पारस पत्थर प्राप्त कर ले। स्वप्नमें भगवान् द्वारा आदेश पानेसे उस लोभ-परायण व्यक्तिको पूरा विश्वास हो गया कि महात्माजीकी सेवासे वह निहाल हो जायेगा। वह व्यक्ति महात्माजीकी निकटता प्राप्त करनेके लिये बहुत ही मनोयोगपूर्वक उनकी सेवा करने लगा। महात्माजीको सेवककी आवश्यकता तो थी ही, उन्होंने उसपर सरलतासे पूरा विश्वास कर लिया। उसने महात्माजीकी सेवा ऐसे मनोयोगपूर्वक की कि महात्माजी भी उसपर पूरे प्रसन्न हो गये। अब महात्माजी जब शौच क्रियाके लिये वनमें जाते तो वह सेवक महात्माजीकी कुटियाकी सफाईके बहाने पूरी तलाशी लेता। अनवरत अनेक वर्षोंतक चेष्टा करनेपर भी उस व्यक्तिको महात्माजीकी कुटियामें पारस पत्थर ढूँढ़नेपर भी नहीं मिला।

इधर महात्मा उस व्यक्तिकी सेवा तो ले रहे थे, परन्तु वे उसकी गतिविधिपर तीक्ष्ण दृष्टि भी रखे हुए थे। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि इतने वर्षोंसे लगातार सेवा करते रहनेपर भी इस व्यक्तिका चित्त शुद्ध होकर इसकी भजन-रुचि क्यों नहीं बढ़ रही ? उस व्यक्तिकी सेवामें उन्हें कहीं चूक भी नहीं दिख रही थी। इस प्रकार रात-दिन अनवरत, अथक एवं निस्स्वार्थ सेवा करनेपर निश्चय ही मलिन-से-मलिन प्राणीकी भी चित्त-वृत्ति शुद्ध होकर उसकी प्रवृत्ति भजनोन्मुखी

हो जानी ही चाहिये थी। परन्तु इस व्यक्तिके भीतर कोई परिवर्तन न देख, वे आश्चर्य करने लगे।

एक दिन महात्माने अनुकूल अवसर पाकर उस सेवकको पूछ ही लिया। वे कहने लगे – "बेटा ! तू बिना स्वार्थके मेरी अनवरत, अथक सेवा कर रहा है, तू सदा जागरूक एवं प्रमादहीन रहता है और इतने वर्षोंसे लगातार मेरे पास है, फिर भी तुझे मेरी सेवाका फल क्यों नहीं मिल रहा ? भगवद्भजनमें तेरी तनिक-सी भी प्रवृत्ति जब नहीं हो रही, तो मेरी सेवाका तुझे फल ही क्या मिला ? सच बता, तू कौन है और किस हेतुसे मेरे पास आया है ?"

सच्चे महात्माकी सेवा सर्वथा व्यर्थ तो जा ही नहीं सकती थी, उस व्यक्तिका थोड़ा चित्त तो शुद्ध हुआ ही था, अतः उसने निश्छलरूपसे महात्माजी के सम्मुख अपना मंतव्य प्रकट कर दिया। उसने कहा – "महाराज ! मैं तो आपकी कुटियासे पारस पत्थर चुराने आया था। मैंने, जब भी अवसर मिला, आपकी कुटियाका कोना-कोना छान मारा, परन्तु महाराज आपने पारस पत्थर कहाँ छुपा रखा है, मैं अबतक बार-बार प्रयत्न करनेपर भी नहीं जान सका। मुझे पूर्ण विश्वास है, मुझे जो स्वप्न हुआ था, वह असत्य कदापि नहीं हो सकता। मैं चौबीसों घण्टे पूर्ण जागरूक सजग रहा कि कभी तो आप छिपाये हुए पारस पत्थरको स्वयं भी देखेंगे, सँभालेंगे। परन्तु आपने उसे कभी टटोला, संभाला नहीं। महाराज ! मैं तो चोर हूँ ही, परन्तु आप भी वस्तुओंको छुपानेमें इतने कुशल हैं कि मैं आपसे हार मान गया।"

महात्मा उस व्यक्तिकी बात सुनकर हँसने लगे। उन्होंने कहा – "भैया ! पारसकी मुझे आवश्यकता तो तब होती, जब मुझे शरीरके भोगोंकी स्पृहा होती, यह मेरे कामकी वस्तु ही नहीं थी। मुझे तो भगवान्का भजन प्रिय है और पारस तो उसमें बाधक ही होता, अतः मैंने उसे निरर्थक मानकर इस लोहेकी डिबियामें बिना छुपाये ही रखा है, इसे छुपाया कहाँ है ?"

चोरको महात्माजीकी बात सुनकर और भी हँसी आयी। उसने कहा- "महाराज ! आप महात्मा होकर भी असत्य बोलेंगे, यह तो मुझे विश्वास ही नहीं था। क्या आपको भी धोखा ही हुआ है ? यह पारस भला कैसे होगा, यह तो लोहेकी डिबियामें रखा है ? पारससे तो लोहेका स्पर्श होते ही वह स्वर्ण हो जाता है। महात्माजीने पुनः मुसकाते हुए उस डिबियाको उठाया और कपड़ा हटाकर उस पत्थरसे लोहेकी डिबियाका संस्पर्श कराया, तत्क्षण ही वह लोहा स्वर्णमें परिवर्त्तित हो गया। अब तो महात्माजी और वह सेवक दोनों ही हँसने लगे। महात्माजीने पुनः उस सेवकको सम्बोधित करते हुए कहा– "बेटा ! जैसे

इस कपड़ेकी छोटी-सी गद्दीके आवरणसे यह पारस लोहेके वर्षोंतक साथ रहकर भी इसे स्वर्ण नहीं बना पा रहा था, उसी प्रकार इस पारसकी चाहके कारण इतने दिवस मेरे साथ रहकर मेरी सेवा करता हुआ भी तू भगवान्‌की भक्ति प्राप्त नहीं कर पाया।''

अतः भैया ! ठीक समझ लीजिये। भगवन्नाम इसी प्रकार हमें भगवान्‌से मिलानेकी अमोघ सामर्थ्य रखता है; नाम स्वयं भगवान् ही है, परन्तु नाम लेते हुए भी नाम-भगवान्‌को साधारण शब्द मान लेनेके कारण हमारे चित्तपर नामका प्रभाव प्रकट नहीं हो पाता; नाम एवं नामीकी एकताके तत्व-रहस्यका ज्ञान और उसपर श्रद्धा नहीं होनेसे नाम तत्काल ही हमें भगवद्‌मिलनका सुख नहीं दे पाता। इस भ्रम एवं अश्रद्धाका आवरण ज्योंही हमारे चित्तसे हटा, हम अपनेको भगवान्‌के परम निकट ही अनुभव करेंगे। पारसके निरावरित स्पर्शने जैसे लोहेको तत्क्षण स्वर्णमें रूपान्तरित कर दिया – भगवान्‌का नाम भी भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है – ऐसा समझमें आते ही नाम हमें तत्क्षण ही भगवान्‌से संयुक्त कर देगा।

नाम-भगवान् हमारी स्थूल जिह्वा-इन्द्रियको ही, शब्द होनेके नाते संस्पर्श करते हैं, क्योंकि हम उन्हें मात्र शब्द मान रहे हैं। मात्र शब्द समझनेके कारण शब्द ही हमारे सम्मुख प्रकट होता है, भगवान् प्रकट नहीं होते। यद्यपि कालान्तरमें यह शब्द भी क्योंकि भगवद्वाची है, हमारे भगवान्‌के चिन्मय मिलनका हेतु हो जायेगा। परन्तु वर्तमानमें तत्क्षण भगवान्‌का प्राकट्य हमारी अश्रद्धाके कारण नहीं हो पाता। इस विश्वासहीनता एवं अश्रद्धाको भी नाम-भगवान् ही दूर करेंगे। नाम रटते-रटते हमारे अविश्वासकी परतें क्रमशः क्षीण होती जावेंगी तथा एक दिवस जीवनमें ऐसा अवश्य आवेगा, जब नाम स्वतः पूर्ण विश्वासको प्रकट कर देगा। विश्वासके प्रकट होते ही नाम स्वयं ही भगवान्‌के रूपमें अपनेको प्रत्यक्ष कर देगा। वह भगवान् तो आज भी है, कल भी था एवं आगे भविष्यमें भी रहेगा। उसके वस्तुगुणमें कहीं कोई न्यूनता न थी, न है, न ही रहेगी। न्यूनता मात्र हमारे विश्वासकी है। अविश्वासका आवरण हटा नहीं कि नाम-प्रभाव व्यक्त हुआ।

विचार करें, सूर्य पृथ्वीसे अनन्तगुना महान् है, उसे एक छोटा-सा बादल कदापि ढक नहीं सकता। परन्तु बादल हमारे नेत्रोंको तो आवरित कर ही सकता है। बादलका आवरण हमारे नेत्रपर आनेसे हमें जैसे सूर्य ढका हुआ अनुभव होता है, उसी प्रकार भगवान् इतने सत्य है कि उनपर कोई भी अविश्वास प्रभावी हो ही नहीं सकता। परन्तु अविश्वास भगवान्‌पर आवरण

डालनेमें असमर्थ होता हुआ भी हमारी बुद्धिको तो भ्रान्त कर ही देता है। भ्रान्त हो जानेसे हमारी बुद्धि साक्षात् भगवान्के प्रति भी सन्देहग्रस्त हो जाती है।

अतः नाम रटनेसे अपने अन्तःकरणकी ही भ्रान्ति, उसका अविश्वास ही हमें हटाना है, अन्तःकरण शुद्ध होते ही विश्वास स्वतः प्रकट हो जायेगा। विश्वासके उदय होते ही नाम तत्क्षण भगवान्को प्रकट कर देगा, क्योंकि भगवान् तो वह है ही।

भैया ! सच्ची बात यह है कि भगवान् सर्वत्र हैं, वे हमारे सम्मुख सदा नित्य-प्रकट हैं, परन्तु हमारी मलिन अन्तःकरणकी वृत्तियाँ, अविश्वासके कीचसे सनी आँखें, उन्हें देख नहीं पातीं। जैसे ही यह अविश्वासकी कीच आँखोंसे हटी, अनन्त-कोटि सूर्योको भी अपने स्व-प्रकाशसे प्रकाशित करनेवाले भगवान् हमारे सम्मुख व्यक्त हो जावेंगे।

अतः भैया ! किसीको भी तनिक भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। बिना किसी घबड़ाहटके नाम-वाहनमें चढ़कर दौड़ पड़ें और भगवान्को प्राप्त कर सदा-सदाके लिये निहाल हो जावें ।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - चौदह (१४)

सकल लोकमाँ सहुँनें वन्दे

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

माहेश्वरी-विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता

लेखन-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,
ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

दिनांक :
६ दिसम्बर, १९४०

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला। आपने अकालकी भीषण स्थितिका चित्रण करते हुए परिवारमें बहनोंकी दुःखद स्थितिका वर्णन किया। उनके पास नहरी-जमीन नहीं होनेसे उन्हें तीन-तीन दिवस भूखे रहना पड़ता है, पत्रमें सारा समाचार पढ़कर चिन्ता हुई।

वैसे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, गीताप्रेस द्वारा अकाल-पीड़ितोंकी पर्याप्त सेवा करते हैं और मेरे तनिक-सा संकेत कर देनेपर, निश्चय ही सहायताकी पर्याप्त राशि बहनोंके पास जा सकती है, परन्तु भैया ! मैंने तो आपका पत्र विश्वंभर श्रीहरिके ही चरणोंमें रख दिया है। मैं भाईजीको किंचित् भी लौकिक-स्वार्थकी गंध भी नहीं देना चाहता और आपसे भी मेरा यही विश्वास-भरा निवेदन है कि चाहे सारा परिवार भूखसे तड़प-तड़पकर मर जाय, आप या अपने परिवारका कोई भी प्राणी श्रीभाईजीको इसकी गंध भी नहीं लगने दे।

भैया ! विश्वास करें, सुख-दुःखरूपमें अपने ही कर्मोंका फल प्राप्त होता है। अतः भीषण कष्टको भी प्रभुकी अनुकम्पा मानकर सह लें ।

इस सम्बन्धमें महाभारतशास्त्रमें दो प्रसङ्ग बहुत ही सुन्दर आये हैं।

पहला प्रसङ्ग श्रीभीष्मपितामहका है। श्रीभीष्मपितामह शर-शय्यामें पड़े मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उस समय उनसे पूछा गया कि महाराज ! आप तो महान् धर्मात्मा रहे, आप पूर्वजन्ममें अष्टवसुओंमेंसे एक वसु थे। आप परम पवित्रात्मा भगवती गंगाके पुत्र हैं, आपको यह शर-शय्याका कष्ट किस कर्मके हेतुसे मिला है ?

इसपर श्रीभीष्मजीने उत्तर दिया कि "पूर्वजन्ममें मैंने राह चलते हुए एक सर्पको धनुषकी नोकसे राहसे हटाते समय थोड़ा-सा प्रमाद कर लिया था। मेरे धनुषकी नोकसे फेंका गया वह सर्प एक काँटोंकी झाड़ीमें गिर गया और वहाँ वह तीखे काँटोंसे पूरी तरह छिद गया। उसी कर्मके फलस्वरूप मुझे यह कष्ट भोगना पड़ रहा है।"

सुख-दुःखरूपमें अपने ही कर्मोंका फल प्राप्त होता है, इस सम्बन्धमें एक बड़ी सुन्दर घटना और है। महाभारत-युद्ध समाप्त होनेके बाद एक दिवस धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा – "श्रीकृष्ण ! इस जन्मसे पिछले सौ जन्मोंकी बातें तो मुझे स्मरण हैं। मैंने अबतकके सौ जन्मोंमें, किसी भी जन्ममें कोई ऐसा उग्र पाप नहीं किया, कि जिसके फलस्वरूप मेरे समक्ष मेरे सौ बेटोंकी मृत्यु हो जाय। फिर मैं क्यों इस प्रकार जीवित रहकर मेरे पुत्रोंकी मृत्युका शोक भोग रहा हूँ ?"

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने धृतराष्ट्रसे कहा – "सौ जन्मोंके भी पूर्व एक जन्ममें तुम राजा थे। तुम्हारा एक सुन्दर उपवन था। उस उपवनमें एक हंस-हंसिनी रहते थे। दाम्पत्य-जीवन सुखपूर्वक बिताते हुए एक बार उन्होंने पूरे सौ अण्डे दिये। समय आनेपर उनमेंसे बहुत ही सुन्दर सौ बच्चे निकले। एक दिवस तुम्हारे रसोइयेने उनमेंसे एक बच्चेको मारकर उसे पकाकर वह, पक्व-मांस तुम्हें खिला दिया। तुमने उस सुस्वादु पक्व-मांसभोजनकी बहुत ही प्रशंसाकी एवं उस रसोइयेको पुरस्कार-राशि भी प्रदान की। तुमने रसोइयेसे यह नहीं पूछा कि यह मांस कहाँसे लाकर पकाया गया है। अब तो रसोइयेने प्रतिदिन ही तुम्हारी तृप्तिके लिये एक हंस-शावकका वध करना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार तुम्हें तृप्तिदायक भोजन परोसनेके लोभसे उसने एक-एक करके उस हंस-दम्पतिके सौ बच्चोंको मारकर तुम्हें खिला दिया। उसी पापका यह फल आज इतने दिनोंके पश्चात् तुम्हारे सम्मुख आया है। इस पापके फलस्वरूप ही तुम्हारे जीवित रहते, तुम्हारे सौ लड़के मारे गये।"

ये दोनों इतिहास त्रिकालज्ञ ऋषि वेदव्यासजीने महाभारतमें कहे हैं। श्रीवेदव्यासजी-जैसे महर्षिके द्वारा असत्य भाषणकी तो कल्पना ही नहीं हो सकती। अतः इसे कपोल-कल्पना मानना तो सत्यपर ही घोर अश्रद्धा करना है।

अतः बहनोंपर जो भी दुःखकी परिस्थितियाँ आ पड़ी हैं, वे अवश्यमेव उनके ही किन्हीं जन्मोंके दुष्कृतका ही फल हैं, अन्यथा परम दयालु विश्वंभर, जो चींटीसे लेकर ब्रह्माजीतक सबके आहारकी यथासमय, यथायोग्य व्यवस्था करते हैं – निश्चय ही उनकी भी समुचित व्यवस्था करते ही।

भैया! हम लोग सोचते हैं कि हमारे साथ बड़ा अन्याय हो रहा है, परन्तु भगवान्‌के राज्यमें किसीके साथ कभी अन्याय हो ही नहीं सकता। अतः जैसी भी परिस्थिति आकर प्राप्त हो जाय, उसे अपना कर्म-फल मानकर वीरतापूर्वक सहन करना चाहिये। मान लो, विपत्ति आयी और हम खूब घबड़ाये, खूब रोये, परन्तु उससे होगा क्या ? विपत्ति तो भोगनी ही पड़ेगी। हँसकर भोगें, चाहे रोकर। हँसते हुए भोगनेसे यह अवश्य अनुभव हो जायेगा कि हम एक ऋण-भार, कर्म-विपाकसे मुक्त हो गये। हम अपनेको प्रभु-कृपासे हलका अनुभव करेंगे।

हम प्रभुकी ओर देखते हुए विपत्तिको भोग लें। निश्चय ही दयामयकी हेतुरहित कृपा उस विपत्तिकी सार्थकताका रहस्य हमपर खोल ही देगी। हम निश्चय ही उस विपत्तिके रूपमें आये प्रभुके वरदानका साक्षात्कारकर निहाल हो जायेंगे। विपत्तिके अन्तरालमें प्रभुके वरद-हस्तकी छाया ही हमपर पड़ रही है, परन्तु विपत्तिसे घबड़ाये हम, मात्र विपत्तिको ही देखते हैं, विपत्ति देनेवाले प्रभुकी अनन्त, अपार कृपाको नहीं देखते। जैसे ही प्रभुकी कृपापर हमारी दृष्टि गयी, घोर-से-घोर विपत्तिको भी सहनेकी सामर्थ्य प्रभु हमें देंगे ही।

परमहंस-शिरोमणि श्रीशुकदेवजी महाराजने श्रीमद्भागवतमें एक बहुत ही प्यारा श्लोक कहा है :–

तत्तेनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणः भुञ्जान एवात्मकृतंविपाकं ।
हृद्वाग्वपुर्भिः विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ।।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि अपने ही द्वारा किये हुए कर्म-विपाकको भोगते समय मनुष्य भगवान्‌की अनुकम्पाकी सदा सम्यक्-प्रकारसे समीक्षा करता रहे, साथ ही उस विपत्तिको प्रभुका वरदान मानते हुए, प्रभुके प्रति अति कृतज्ञ हुआ, हृदय, वचन एवं शरीरसे भगवान्‌को निरन्तर प्रणाम करे। इस प्रकार सब समय सब रूपोंमें भगवान्‌को प्रणाम करता हुआ जीवन बितानेवाला विनयी प्राणी, जैसे पिताकी सम्पत्तिपर पुत्र अपने-आप अपना अधिकार प्राप्त कर लेता है, वैसे ही मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है।

भैया ! अनन्त जन्मोंके कर्म-चक्रसे छूटनेका श्रीशुकदेवजी महाराजने यह बहुत ही सुन्दर एवं सरल साधन बताया है। यह अत्यंत ही सरल उपाय है– बस, थोड़ी-सी सावधानीकी ही आवश्यकता है, प्रमाद त्यागकर सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि

ही तो करनी है और मन-ही-मन विश्वरूप भगवान्‌को प्रणाम करना है।

एक महात्माका मुझे अनुभव है। वे प्रत्येक षोड़शाक्षर नाम-मंत्रके जपके पश्चात् – ***'कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने प्रणतः क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः'*** – इस मंत्रका सम्पुट अवश्य लगाते थे और सिर झुकाकर भगवान्‌की मानस-मूर्तिके सम्मुख एकाग्र-मनसे प्रणाम करते थे। इस प्रकार, वे मालाके एक-एक दानेपर प्रणाम करते हुए ही आगे नाम-जप करते थे। उनका ऐसा सुन्दर अभ्यास था कि मालाका एक दाना खिसकते ही उनकी गर्दन भगवान्‌को प्रणाम करने स्वतः ही झुक जाती थी। अनेक बार, वे महात्मा माला साथ नहीं भी रखते थे, परन्तु उस अवस्थामें जहाँ भी उनकी दृष्टि पड़ती, वहीं प्रभुको स्थित देखकर वे अवश्य प्रणाम करते। उनका अभ्यास तो इतना बढ़ गया था कि प्रत्येक प्राणीमें ही उन्हें अपने इष्टकी मूर्ति मुसकाती दिखती। उनकी प्रणाम-क्रिया जीवमात्रके प्रति होती थी। आगे जाकर तो वे जड़-पदार्थोंमें भी अपने भगवान्‌को देख-देखकर प्रणाम करने लगे थे।

भैया ! हम बहुत ही प्रमादी हैं। कोई भी साधन स्थिरता एवं श्रद्धापूर्वक करते ही नहीं। यह परमहंस-शिरोमणि शुकदेवजी महाराजद्वारा बताया साधन तो ऐसा सुगम एवं अनमोल है कि सम्पूर्ण जगत्‌को, स्वप्न-जागरण – सभी समय, प्रत्यक्ष भगवान्‌में परिवर्तित कर दे सकता है। इस साधनमें लगे साधकको रोग-शोक, संपत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मृत्यु, यश-अपयश – सभीमें भगवान्-ही-भगवान् भरे दीखेंगे; उसका न ही कोई शत्रु होगा, न ही मित्र; उसके लिये न कहीं अनुकूलता है, न प्रतिकूलता। उसे तो सर्वत्र सब अवस्थाओंमें प्रभु एवं प्रभुकी परम मंगलमयी लीला ही सदा विलसित दृष्टिगोचर होगी।

भैया ! मृत्यु तो एक दिवस आयेगी ही। वह चाहे भूख-प्याससे छटपटाकर आवे, चाहे अन्य किसी हेतु से। आवश्यकता तो यही है कि हम मृत्युके रूपमें आये मंगल-निकेतन प्रभुको देख सकें। हमें रोगके रूपमें, शोकके रूपमें, सभी रूपोंमें प्रभु-भर दिखें। बस, साधन कुछ भी होवे, हमें ठीक यही अनुभव होना चाहिये कि कण-कणमें भरे प्रभु हमसे प्रत्यक्ष पूजा स्वीकार कर रहे हैं।

सब जगत् हमारे लिये प्रभुकी पावन मूर्ति हो जाय और हम सदा, सभी अवस्थामें उनके प्रणत रहें ।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - पन्द्रह (१५)

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना
ताहि भजनु तजि भाव न आना ।।

पत्र-लेखक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र-प्रेषिति :

श्रीतारादत्तजी मिश्र

ग्राम, पो. फखरपुर (गया) (बिहार)

लेखन-स्थल :

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,

ग्राम, पो. रतनगढ़, बीकानेर

दिनांक :

१५ दिसम्बर १९४० ई.

प्राप्ति-सूत्र -

श्रीदेवदत्तजी मिश्रकी

पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

पू. तारादत्त भैया !

सादर प्रणाम । आपका पत्र मिला। आपने अति निश्छल-भावसे अपनी मनकी जो स्थिति लिखी, वह आपकी ही नहीं, अधिकांशतः हम सभीकी है। आपने पूरा आत्मान्वेषण करके अति दैन्यसे – जो भी अपने भगवद्विश्वासकी कमियाँ बतायीं हैं, वे भैया ! सच पूछो तो अधिकाशतः हम सभीमें हैं। आप कहते हैं – "मैं तो पूरा भगवान्‌को मानता ही नहीं, वे जगत्‌के प्रभु (नियन्ता) हैं, ऐसी भी मेरी सत्य आस्था नहीं है। प्रभुके अस्तित्वपर ही जब मेरा पूर्ण और सुदृढ़ विश्वास नहीं है और मैं उनका आश्रित ही नहीं, फिर वे मुझे क्यों संभालेंगे ?"

भैया ! आपकी इन शंकाओंके उत्तरमें मैं भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार द्वारा सुनायी एक घटनाका उल्लेख कर देता हूँ। यह घटना सच्ची ही होनी चाहिये, क्योंकि श्रीभाईजी अपने सत्संगमें कभी कपोल-कल्पित कथाएँ नहीं कहते हैं; भगवद्भक्तोंकी सच्ची कथाएँ ही प्रायः सुनाते हैं। उनकी सुनायी घटनाका यथाश्रुत-यथाग्रहीत यह वर्णन है। इसे मात्र कहानी ही मानी जाय, तब भी इस कथामें निहित जो तत्त्व (भगवान्‌का स्वभाव) है, वह तो संतद्वारा

बताया उनका सत्य अनुभव है ही। "एक वृद्धा-स्त्री बहुत ही भगवद्भक्त थी। वह साधु-महात्माओंपर भी अतिशय श्रद्धा रखती थी। प्रतिदिन कोई-न-कोई सन्त-महात्मा उसके घर भोजन करने आते ही रहते थे। उसने अपना यह नियम ही बना रखा था कि पहले किसी-न-किसी महात्माको भिक्षा करा दे, तब स्वयं भोजन करे। बहुत वर्षोंसे बुढ़ियाका यह क्रम अक्षुण्ण चलता रहा। अच्छे-अच्छे भगवद्भक्त उसके घर आते और अतिशय प्रेमपूर्वक उसके घरका भगवत्प्रसाद ग्रहण करते थे। बुढ़िया, महात्माओंके अपने गृहमें आनेपर, पहले उनके चरण पखारती, पूजन करती, और तब भोजन कराके, उनसे भगवद्विश्वासकी, साधनाओं सम्बन्धी वार्त्ता करती और उन्हें दक्षिणादि देकर पूर्ण संतुष्ट करके विदा करती थी।

एक दिवस बुढ़ियाने किसी साधु-महात्माकी बहुत खोज करायी, परन्तु उसे कोई साधु मिला ही नहीं, जो उसके यहाँ प्रसाद पाने आवे। वह भी नियमकी पक्की थी, अतः उस दिवस उसने भोजन किया ही नहीं। वह सायंकालतक भूखी-प्यासी भगवान्‌का भजन करती रही और किसी-न-किसी महात्माकी प्रतीक्षा करती रही।

सायंकाल उसके घरमें भूला-भटका एक अति-वृद्ध साधुवेषधारी आ गया। बुढ़ियाने अति श्रद्धापूर्वक महात्माजीको आसनपर बैठाया, उनका पूजन किया। महात्माजी वस्तुतः दिन-भरके भूखे थे, उन्हें भोजनकी अति शीघ्रता थी, अतः वे इस पूजन आदिमें होनेवाले विलम्बको सहन नहीं कर पा रहे थे। वे भोजनके लिये छटपटा रहे थे। बुढ़ियाके यहाँ भोजन तो तैयार था, परन्तु उसने सायंकालका भगवान्‌को भोग नहीं लगाया था, न ही सन्ध्या-आरती ही की थी। अतः उसने महात्माजीको भगवान्‌की आरतीमें सम्मिलित होनेका आग्रह किया और कहा – "महाराज ! आरतीका काल व्यतीत हो रहा है, आरती करते ही मैं आपको भिक्षा परोस दूँगी।"

बुढ़ियाकी बात सुनते ही वे महात्मा-वेषधारी वृद्ध बौखला गये। वे कहने लगे – "यह पत्थर-पूजा सब ढोंग है। मैं किसी भगवान्‌को नहीं मानता। कहीं कोई भगवान् नही होता। मैं अभी तेरे भगवान्‌को उठाकर गलीमें फेंकता हूँ, अगर वह सच्चा हो तो मेरा एक बाल भी बाँका कर ले।"

बुढ़िया तो स्तब्ध-चकित थी। उसकी सारी उम्रमें आजतक उसके घरपर उसके ठाकुरको बाहर गलीमें फेंकनेको उद्यत कोई महात्मा नहीं आया था। कुछ देर तो बुढ़िया चकित हुई, उस साधुद्वारा भगवान्‌को दी जानेवाली गालियाँ सुनती रही, परन्तु जब लगातार साधु यही बकवास करता रहा, तो

उसको क्रोध हो आया। उसने एक डंडा उठाया और साधुसे कहा –

"महाराज ! मेरा घर भगवद्भक्तोंकी सेवाके लिये है, आप-जैसे नास्तिक कालनेमियोंके लिये नहीं है, जो वस्त्र तो साधुका पहने हों और भगवान्‌की सत्ता न मानकर उन्हें गालियाँ देते हों। आप इसी क्षण मेरे घरसे निकल जाइये, अन्यथा अब मैं इस डंडेसे ही आपकी आवभगत करूँगी।"

वह साधु चुपचाप, जैसे आया था, वैसे ही चला गया। उसी समय भगवान्‌ने बुढ़ियाको आकाशवाणी द्वारा सन्देश दिया – "अरी बुढिया ! यह साधु आजसे ही नहीं, निरे बालकपनसे साधुवेष धारण किये है। परन्तु यह जब मुझे मानता ही नहीं, तो गाली भी देता रहता है। लगातार साठ-पैंसठ वर्षोंसे मैं इसकी अनवरत गालियाँ सुनता आया हूँ और आजतक मैंने कभी इसे भूखा नहीं सुलाया। इसने आजतक तो मुझे गाली देनेकी अपनी आदत छोड़ी नहीं और मैंने भी इसे अन्न-वस्त्र देकर योग-क्षेम करनेकी अपनी आदत नहीं छोड़ी। जब यह अपनी गाली देनेकी बान नहीं छोड़ता, तो मैं इसे रोटी देनेकी बान क्यों छोड़ूँ ? यही मेरा तिरस्कार करता आया है, मैं तो सदा इसका सत्कार ही करता रहा हूँ। आज प्रथम बार तूने इसको भूखा ही घरसे निकाल दिया। तू कैसी मेरी भक्त है – जो एक दिन भी इसे रोटी नहीं खिला सकी ? मैंने गाली खा-खाकर भी इसका यावज्जीवन माताकी तरह दुलारसे पालन किया है; आज प्रथम बार जब तूने इसे तिरस्कार करके अपने घरसे भूखा निकाला, तो मुझे बहुत ही लज्जा आ रही है। तूने तो मेरी नाक कटवा दी, तू भला कैसी मेरी भक्ति करती है ?"

भैया ! इस कथाकी कोई एतिहासिकता नहीं होनेसे कोई इसे कपोल-कल्पित ही कह दे सकता है, परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता तो भगवान्‌की स्वयंकी प्रामाणिक वाणी है ही। श्रीगीताजीमें भगवान् अपनेको ***'सुहृदः सर्वभूतानाम्'*** कहते हैं। उन्होंने यहाँ ***'सुहृदः सर्वसुहृदानां'***, अथवा ***'सज्जनानां'***, ***'भक्तानां'***, ***'आस्तिकानाम्'*** – नहीं कहा है। भगवान् कहते हैं, "सर्वभूतका मैं सुहृद हूँ।" भगवान्‌के कहनेका इतना ही अर्थ है कि प्राणिमात्र जिनके शरीर पंचभूतोंसे निर्मित हैं – चाहे वे शरीर पृथ्वी-तत्त्व-प्रधान मनुष्योंके हों, जल-तत्त्व-प्रधान वरुणलोकके प्राणियोंके हों, वायु-तत्त्व-प्रधान प्रेतादिके हों, मंत्ररूप देव सृष्टिके हों, मैं सबका सुहृद हूँ। यहाँ भगवान्‌ने यह नहीं कहा है कि मैं महात्माओंका ही सुहृद हूँ, दुरात्माओंका नहीं, मैं मेरे यश-गान करनेवालोंका ही सुहृद हूँ, अपयश करनेवालोंका नहीं, मैं विश्वास करनेवाले आस्तिकोंका ही सुहृद हूँ, नास्तिकोका नहीं। भगवान् कहते हैं कि मैं आस्तिक, नास्तिक, मूढ़, माया-भ्रमित,

मुझे भूले-भटके, सभीका सुहृद हूँ।

क्या मैं एवं आप, जो सचमुच ही न तो पूरे आस्तिक हैं, न ही नास्तिक हैं – सर्वभूतोंकी श्रेणीमें नहीं आते ? यदि भगवान् कुछ गुण-विशिष्ट लोगोंके ही सुहृद होते, तब तो हमें चिन्ता होती, तब तो अवश्य ही आप और हमलोगोंके निराश होनेका कोई कारण भी होता, परन्तु जब भगवान् गुण-निरपेक्ष, मात्र सभी जीवधारियोंके सुहृद हैं, फिर निराशाका प्रश्न ही कहाँ है ?

भगवान् हम सभीके सुहृद तो हैं ही, साथ ही वे सर्वशक्तिमान्, सर्वलोक-महेश्वर एवं कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तु समर्थ भी हैं। फिर वे सर्वज्ञ भी हैं, हमारी भीतर-से-भीतर की परिस्थितिका भी ठीक-ठीक उन्हें ज्ञान है, क्या वे हमारा हित नहीं करेंगे ? क्या उनकी सामर्थ्य हमारे-जैसे एक नगण्य जीवको सुधारनेकी भी नहीं है ? जब वे हमारे सभीके भेदभावरहित अपने-के-अपने हैं, और सर्वशक्तिमान् हैं, तो फिर हमें क्या वे बिना किसी क्लेश अथवा परिश्रमके सहजरूपमें इस भवसागरसे पार नहीं कर देंगे ? निश्चय ही हमें उनके बलपर, उनकी हमारे प्रति आत्मीयतापर विश्वास नहीं है, अन्यथा हम किसी साधन-बलका विश्वास न कर, उनके भरोसे पूर्ण निरापद एवं निश्चिंत हो जाते। उन सर्वलोक-महेश्वरके प्रति हमारा सौहार्द ही सुदृढ़ हो जाता, तो हम निश्चय-निश्चय निहाल हो जाते।

यह बात सर्वांशमें सोलहों आने सत्य होनेपर भी हमारा प्रभुके प्रति अविश्वास क्यों है ? इसका प्रमुखतम कारण हमारे अन्तःकरणकी मलिनता ही है। दूसरा कारण हमारी भोगोंकी चाह, आसक्ति एवं प्रभुसे भिन्न अपनी स्वतंत्र पसंद है।

भगवान्ने सभी जीवोंको जैविक-स्वतंत्रता दे रखी है, अतः इस अन्तःकरणकी मलिनताको स्वच्छ कर सकना, हमारी स्वयंकी चेष्टासे ही संभव है। इसमें अन्यत्र कहींसे मात्र प्रासंगिक सहायता ही मिल सकनी संभव है। इसमें प्रमुख प्रयास हमें स्वयं ही करना पड़ेगा। इसे दूर करनेमें कोई बहुत कठिनता हो, सो भी बात नहीं। हमें और कुछ भी नहीं करना है; मात्र भगवन्नामका आश्रय ले लेना है। जबतक ऐसा समय नहीं आता कि भगवान्के स्वभावगत सौहार्दको देख-देखकर हमारा हृदय चौबीसों घण्टे प्रभु-प्रेममें छका रहे, हम जीभसे निरन्तर नाम उच्चारित करते रहें। हम अति कठोरतापूर्वक नियम लें कि परमावश्यक होनेपर ही बोलेंगे और जीभसे निरन्तर नाम उच्चारित करते रहेंगे। जिस दिन जप निरन्तर होने लगेगा, फिर कोई कर्तव्य हमारा शेष नहीं रहेगा।

दूसरी बात भी बहुत ही अनमोल है। हम कहीं कोई अपनी पसन्दगी नहीं रखें। हम चाहते हैं – हमारा लड़का इन्जीनियर बन जाय, वह बालक पढ़ता नहीं, हम बहुत दुखी हो उठते हैं। हम चाहते हैं, हमारा मकान हो, और प्रभुका विधान हमें गृह-हीन, किरायेके मकानमें जीवन-यापन करानेका हो रहा है, हम दुखी हैं। हमारी पसन्दकी हमें पत्नी नहीं मिली, हमारे पसन्दका हमारा स्वास्थ्य नहीं, हम अधिकांश अपनी पसंदके कारण ही दुखी होते हैं।

अतः हमें अपनी पसन्द को मनसे सर्वथा, सर्वांशमे ही हटा देना चाहिये। जो प्रभुकी पसन्द है, वही हमारे लिये पूर्ण अमृत है। जो अपनी पसन्दगीपर निर्भर है, वह प्रभुकी पसन्दगीका विद्रोही है। हमें सर्वदा सुदृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि परम-सुहृद भगवान्ने जो भी हमें अपनी पसन्दगीसे दिया है, वही हमारे लिये परम निरापद, कल्याणकारी विधान है, वही हमारे लिये अमृत है। अनन्त शक्तिशाली, अनन्त कृपालु, अतीव सुहृद, अनन्त सत्ता-स्वरूप, सर्वज्ञ प्रभुसे हमारे एवं हमारे सभी परिवार, बन्धु-बान्धव, पुत्र-कलत्रोंके लिये जो भी विधान हो रहा है, उनकी पसन्दगीका वह विधान ही हमारे लिये पूर्ण मंगलमय है। प्रभुके विधानसे यदि हमारे पास घोर रोग-शोक, दुःख-दारिद्र्य, हानि, पराभव, एक-से-एक बढ़कर संकट आ रहे हैं, तो भी हम उसे प्रभुका दिया प्रसाद, अमृतौषधि मानकर हर्ष और उल्लाससे भरे रहें। यद्यपि ऐसे परम विपरीत विधानको हँसते हुए स्वीकारना – है परम कठिन, परन्तु प्रभुके सौहार्दपर विश्वासकी यही एक कसौटी है। यदि हम प्रभुके द्वारा भेजे गये प्रत्येक विधानको अमृत एवं प्रभुका वरदान समझ लें और सदा हर्षित रहें, तो फिर हमारे अन्तःकरणकी मलिनता दूर होते किंचित् भी देर नहीं लगेगी।

भैया ! बस एक बार हमारा अन्तःकरण शुद्ध हुआ नहीं, कि सम्पूर्ण विश्वको अपनी पावनतम मंगलमयी गोदमें धारण किये प्रभु और उनका परम-सुहृद स्वभाव हमारी आँखोंको, हृदयको, रोम-रोमको आप्यायित कर उठेगा। हम प्रभुकी विलक्षण हेतुरहित प्रेममयी झाँकी देखकर कृतकृत्य हो उठेंगे।

भैया ! हमारी बुद्धि प्राकृत है, वह मात्र हमारे वर्तमान शरीरके एवं इन्द्रियोंके सुखोंतककी ही बात सोचती है, परन्तु प्रभुका ज्ञान अनन्त है, वह हमारे समग्र भूत, एवं भविष्यकी राई-रत्तीकी चिन्ता रखते हैं।

हमारी बुद्धि पाप-संस्कारोंसे मलिन है, वह क्षुद्र भोगोंमें उलझी पाप-पुण्य एवं शास्त्रविधिका उल्लंघन करके भी मात्र भोग-सुखका विधान ही हितमूलक समझ रही है। हम जिस बातको अपने एवं अपने जनोंके अनुकूल समझते हैं, वह विधान भगवान्की सुदूर भविष्य-परक दृष्टि एवं उनकी परम मंगलमयी

कृपाशक्तिके विपरीत हो सकता है। भगवान्‌की कृपा-शक्ति तो सदैव निर्भूल मंगलवर्षिणी है। उसके विधानमें किसी भी प्रमाद एवं अहितकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः भगवान्‌की अनन्त मंगलमयी कृपा-शक्तिके द्वारा जो भी हमारे लिये विधान रचित हुआ है, उसके अतिरिक्त कोई भी दूसरा उसकी कोटिका हितकारी विधान हमारे लिये संभव ही नहीं है। भगवान्‌की अनन्त कृपामयी सुदूर दृष्टिने ऐसा मानकर ही वह विधान हमपर लागू किया है। यह संभव है कि जीवनभर वह हमारी पसंदगीके प्रतिकूल ही रहा हो। परन्तु उससे अधिक मंगलमय अन्य किसी विधानकी हमारे लिये संभावना ही नहीं थी।

भैया ! भगवान्‌के अत्यंत सौहार्दपूर्ण स्वभावका ज्ञान नहीं होनेसे ही हम भगवान्‌पर पूर्ण निर्भर नहीं हो पा रहे हैं और पूर्ण निर्भर नहीं होनेसे शरीर एवं इन्द्रियोंके भोगोंकी अनुकूलता प्राप्त करनेमें रात-दिवस चिन्तित रहते हैं एवं यह हमारा चिन्ताग्रस्त मन हमें विषयोंके ही चिन्तनमें भरमाता रहता है, हमें भगवान्‌का भजन करनेकी फुरसत ही नहीं देता। हम दिनरात जिस योगक्षेमकी चिन्तामें लगे हैं, उसका हमारे लिये अर्थ इतना ही है कि हमारा नाशवान् क्षणभंगुर, मलिन शरीरके भोगोंसे अधिक-से-अधिक योग हो और जो भोग प्राप्त हैं, वे अक्षुण्ण बने रहें; जहाँ भगवान्‌की दृष्टिमें हमारे योगक्षेमका अर्थ है कि कौनसी ऐसी परिस्थितियाँ घटित हों जिससे हमारा संसारके भोगोंसे वैराग्य हो और परमात्मासे योग हो; साथ ही जो भी हमारा परमात्माकी तरफ थोड़ा-बहुत रुझान हुआ है, उस रुझानके भावोंका संरक्षण (क्षेम) हो सके ।

जो भी भक्त भगवान्‌के इस स्वभावको जान लेता है, वह सदा-सदाके लिये यह मान लेता है कि जिन परिस्थितियोंका भगवत्कृपा हमारे जीवनमें विधान कर रही है, वही भगवान्‌का हमारे लिये अनन्त कृपापूर्ण वरदान है। यदि वे परिस्थितियाँ मंगलमय वरदान नहीं होतीं, तो भगवान्, जो हमारे परम सुहृद हैं, उनके लिये उन्हें बदल देना कौन कठिन कार्य होता ? बस, वह भक्त सभी चिन्ताओंसे पूर्णतया मुक्त हुआ अपनी सम्पूर्ण कर्म-शक्ति मात्र भजनमें ही लगाता है। ऐसे भगद्विश्वासी भक्तको यदि कोई चिन्ता होती है, तो शरीर एवं संसारकी नहीं; वह समझता है कि शरीरका निर्वाह करना तो भगवान्‌की जिम्मेदारी है। उसे तो यही चिन्ता होती है कि कहीं मेरा भगवान्‌की निर्भरतामें कोई स्खलन तो नहीं हो रहा है। वह सदा इसी खोजमें रहता है कि मैं कहीं भगवान्‌का पूर्णरूपेण आश्रयी न होकर अन्याश्रयी तो नहीं हो रहा ? भगवान्‌पर पूर्ण निर्भर भक्तको दुःखपूर्ण परिस्थितियाँ अथवा प्रतिकूलताएँ उतना कष्ट नहीं देतीं जितना उसे अपना भगवदाश्रयका स्खलन अथवा-अन्यमुखापेक्षी होना

कष्टदायक लगता है।

संसार यदि किसीके लिये कुछ भी करता है, तो बदलेमें कितनी ही उचित, अनुचित माँग रखता है। परन्तु भगवान् हमारा सम्पूर्ण योग-क्षेम निर्वाह करते हुए हमसे मात्र इतना ही चाहते हैं कि हम इस अशाश्वत, दुःखालय संसारकी आसक्ति का त्यागकर मात्र उनसे ही सतत संयुक्त रहें। नाम, रूप, लीला, धाम, किसी भी सूत्रसे भगवान् हमें अपने अखण्ड, अपार, असीम आनन्द एवं मंगल-वैभवसे जोड़े रखना चाहते हैं।

हम तो इतने वज्रमूर्ख हैं कि ऐसे परम दयालु-स्वभाव भगवान्को सदा पीठ दिये रहते हैं – जो हमारी सब चिन्ता, हमारा सब दुःख, जलन, अभाव मिटाकर हमारा जन्मसे लेकर मोक्षतक अथवा भगवान्में पूर्ण विलय (एकमेक) हो जानेतकका योगक्षेम-निर्वाह करनेकी प्रतिज्ञा किये हुए हैं।

ये सभी बातें मात्र भावुकताकी नहीं, ध्रुव सत्य हैं। भगवान्पर विश्वास करके हम यदि अपनेको सम्पूर्ण चिन्ताओंसे सदा-सदाके लिये मुक्त कर लें और मात्र अपने एवं उस परम दयालु प्रभुके मध्य एकान्तिक, विशुद्धखरे प्रेम-निर्वाह की चिन्ता करें, तो हमारा सम्पूर्ण जीवन ही अमृत हो जायेगा। कुछ ही कालमें हम पावेंगे कि सम्पूर्ण लौकिक और पारमार्थिक हमारी सभी समस्याएँ सरलतासे हल होती जा रही हैं। केवल भगवान्पर निर्भर होकर चल पड़नेकी ही आवश्यकता है। भगवान् हमारी सुरक्षाका प्रमाण पद-पदपर देते जावेंगे।

एक बात ध्यानमें रखें – निर्भरता भी तीन प्रकारकी होती है। निकृष्ट कोटिकी निर्भरता इसे कहते हैं कि जिसमें लाचारीसे संतोष करना होता है कि क्या करें, भगवान् जबर्दस्त हैं, उनसे लड़ा तो जा सकता नहीं, करेंगे वे अपने मनकी ही; अब जैसे रखेंगे, हमें रहना ही पड़ेगा, जो विधान करेंगे, वह स्वीकारना ही होगा – यह निकृष्ट कोटिकी निर्भरता है। इसे निर्भरतापर कलंक ही कहना चाहिये।

दूसरे प्रकारकी निर्भरतामें विवेककी प्रधानता होती है। इस कोटिका भक्त संतुष्ट रहता है और बुद्धिमें अटल निश्चय रखता है कि प्रभु जो करते हैं, वह ठीक करते हैं। परन्तु यहाँ निर्भरताके ऊपर विवेककी ही प्रधानता है। निर्भरता गौण है और विवेक प्रधान है।

अनुकूल परिस्थितियोंमें कहना कि हम तो प्रभुपर निर्भर हैं, हमें तो उनके प्रत्येक विधानमें संतोष है – यह केवल मौखिक निर्भरता है।

परन्तु अनवरत दीर्घ-कालतक, पूर्णतया प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही बनी रहें और इन निरन्तरकी घोर विपत्तिजनक परिस्थितियोंमें भी स्वाभाविक ही

हमारा प्रभुके प्रति निर्भरताका भाव उमड़ता रहे और हम 'पूर्ण मंगल हो रहा है', यही सुदृढ रूपसे अविचल मानते रहें, तब समझना चाहिये कि हमारा भाव सौटंच है।

यह तभी संभव है जब प्रभुका पूर्ण सौहार्दभरा स्वभाव हमारी आँखोंमें नित्य व्यक्त रहे। यह निश्चय मान लीजिये कि ऐसी निर्भरताका उदय होते ही हमारा अन्तःकरण सम्पूर्ण पाप एवं पुण्य – दोनों प्रकारके मलसे रहित हुआ तत्क्षण ही पूर्ण निर्मल और शुद्ध हो उठेगा।

शुभ-अशुभ नाश होते ही हमारे लिये भगवान्‌का परममंगलमय नूतन विधान व्यक्त हो जायेगा, जो हमारा समग्र जीवन ही सहज-सुखी कर देगा। लौकिक दृष्टिमें भी अशुभ परिस्थितियाँ तो अशुभ कर्मोंसे ही आती हैं। जब हमारे अशुभ कर्म रहेंगे ही नहीं तो अशुभ परिस्थितियोंका भी समूल नाश हो ही जायेगा। भक्तका जीवन इसीलिये अति सहज-सुखकर ही कटता है।

सिद्ध-शरणापन्न निर्भर-भक्तके जीवनमें पहले तो विपत्तियाँ आती ही नहीं, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनोंका नाश हो जानेसे भक्तका कर्म-भोग तो सर्वांशमें कट ही जाता है। उसका शेष जीवन, भगवान् लीलामयके मात्र पात्रके रूपमें ही व्यतीत होता है। परन्तु ऐसे भक्तका कभी-कभी अतिशय सम्मान बढ़ानेके लिये और जगत्‌में भक्त-चरितका आदर्श संस्थापित हो – इस पवित्र उद्देश्यसे स्वयं भगवान् ही प्रतिकूल परिस्थितिका बाना पहनकर भक्तके सम्मुख खड़े हो जाते हैं। इस स्थितिमें उस भयंकर परिस्थितिका बाना पहने भगवान्‌का भक्त अम्लान चित्तसे उत्साह पूर्वक सुस्वागत करता है। वह भगवानकी इच्छापूर्तिके लिये हँसता-नाचता विपत्तियोंको भगवद्रूप ही देखता हुआ, जगत्‌की दृष्टिमें गरल दिखनेवाले उस भगवत्प्रसादको अमृततुल्य मानकर, सहर्ष हँसता–नाचता, भगवद्–यशका गान करता, उसे पी जाता है।

सारांश बात इतनी ही है कि हम अच्छे हैं, या बुरे हैं, आस्तिक हैं या नास्तिक हैं, चरित्रवान् हैं या दुश्चरित्र है, हमारी वृत्तियाँ सुधरती हैं या नहीं सुधर रहीं, इस सबकी चिन्ता सर्वथा प्रभुपर छोड़ दीजिये। यहाँ जो कुछ भला-बुरा, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश हो रहा है, होने दीजिये। मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगाइये। जितनी बार मन संसारमें जाये, वहाँसे हटाकर भगवान्‌में लगाते जावें। जिह्वासे भगवन्नामका आश्रय नहीं छोड़ें, फिर कोई चिन्ता नहीं। सब पूर्ण मंगल ही होगा।

आपका - चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - सोलह (१६)

भोगोंमें सुख नहीं है

पत्र-प्रेषक :

प. पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(प. पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेववदत्तजी मिश्र, श्रीतारादत्तजी मिश्र

(माहेश्वरी विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता)

लेखन-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,
ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहकी कापीकी
प्रतिलिपि

दिनांक :
तिथि - पौषकृष्ण ३० सं. १९९७ वि.
तदनुसार, १८-१२-४०

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम । आपका पत्र मिला। आपने अपने पत्रमें जो भी मेरी प्रशंसा की, सत्यांशमें वे बातें आपकी स्नेहमयी दृष्टिकी ही उपज हैं। स्नेहमें गुण-दर्शन ही होता है, दोष-दर्शन तो होता ही नहीं। मैं जब अपनी ओर देखता हूँ, तो सर्वथा, सर्वांशमें अपनेको सब प्रकारसे हीन ही अनुभव करता हूँ। मेरे परमार्थ-जीवनकी आधारशिला तो सदैव आपकी दी हुई शिक्षाएँ ही रहीं हैं। आपकी दी हुई संस्कृत-शिक्षासे ही मैं आज गौड़ीय महात्माओंके अनमोल ग्रन्थ देख पा रहा हूँ, जो वर्तमानमें मेरी जीवन-साधनाके पाथेय हो रहे हैं। सचमुच ही मैं आपका रोम-रोमसे कृतज्ञ हूँ। आपके उपकारका बदला तो मैं, अति कृतघ्न चुका सकता ही नहीं, हाँ, यदि मैं मेरे आराध्य राधाकृष्णके चरणोंमें पूरा न्यौछावर हो सका, तो वे मेरे सभी दायित्व पूर्णतया निर्वाह कर देंगे – ऐसी मेरी धारणा है।

भैया ! मेरे मनमें तो आजकल ये ही भाव प्रमुख रूपसे उठते रहते हैं। बार-बार निश्चय करता हूँ कि मानव-जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि इस

जीवनको प्रभुके चरणोंमें समर्पित करना है। बार-बार सोचता हूँ, शरीरके भोग मुझे या किसीको भी सुखी कर सकते हैं क्या ? मान लो, एक बार यह सत्य ही हो कि भोगोंमें सुख है, तो क्या ये हमारी इच्छासे हमें प्राप्त हो जायेंगे ? यदि प्राप्त हो भी गये, तो क्या ये स्थायी रहेंगे ? ये स्थायी रहे नहीं और हमें छोड़ गये, तो इनकी आसक्तिसे क्या हम तत्क्षण मुक्त हो सकेंगे ? इन सभी प्रश्नों पर गंभीरतासे विचार करनेपर एक ही तथ्य समझमें आता है कि ये भोग दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली योनियाँ है। ये मात्र क्षण-भरके लिये सुखाभासकी आशा तो दिलाते हैं, परन्तु सुख इनमें है नहीं। ये दुःखोंमें फँसानेके जंजाल मात्र हैं। ये प्राप्तिकालमें भी सुखी करते नहीं। "अब सुख मिलेगा, अब सुख मिलेगा" – इस मिथ्या आशामें ही उलझाये रखते हैं।

ये भोग हैं, क्या ? इस प्रश्नपर विचार करनेसे यही तथ्य प्रकट होता है कि इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे संस्पर्श ही इन भोगोंकी उत्पत्ति का हेतु है। नेत्रन्द्रियोंका जब सुष्ठु: आकारसे, त्वचाका जब सुखद स्पर्शसे, कानोंका जब सुमधुर शब्दसे संयोग होता है, तो उसे हम सुख समझ लेते हैं। यह सुख चिरस्थायी तो, हो ही नहीं सकता, बस क्षण-भरके लिये यह सुखका आभास-भर देता है। जब स्थायी सुख होता ही नहीं, तो तृप्ति होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ जीवको मृगतृष्णाकी तरह मात्र सुखाशामें ही भटकाती रहती हैं। जीवका सम्पूर्ण अनुसंधान इन्हींमें सुख ढूँढ़नेका हो जानेके कारण वह इनके पीछे परमात्माकी खोजसे ही कट जाता है। उसका लक्ष्य ही परमात्मगत अखण्ड शान्ति नहीं होकर, भोगोंकी घुड़-दौड़ हो जाता है। इस प्रकार वह बिचारा जीव अखण्ड आनन्दकी संभावनासे ही पूर्णतया कट जाता है।

ये भोग प्राप्तिकालमें तो अतृप्तिकी नीरसताकी उत्पत्ति करते ही हैं, प्राप्तिके पश्चात् इन्हें और अधिक पानेका लोभ व्यथित करता है। इतनेमें सुख नहीं मिला, इससे सुख नहीं मिला, परन्तु इतना हो जाता, तो सुख मिल जाता, यह मिल जाता, तो सुख मिल जाता, इस प्रकार लोभकी ज्वाला, हमें इन विषयोंसे उत्पन्न हो-होकर निरन्तर जलाती रहती है। जहाँ हम दूसरोंको हमसे अधिक भोग-सम्पन्न देखते हैं, वहाँ हमारी उनसे निरन्तर ईर्ष्या बढ़ती जाती है और यह ईर्ष्या उनके प्रति वैर एवं द्वेषमें परिणत हो जाती है। जिनके पास भोग-बहुलता होती है, उनमें प्रभुताका मद एवं अभिमान बहुत बढ़ा रहता है। जिससे वे स्वयं तो दुखी रहते ही हैं, दूसरे जो भी उनके संपर्कमें आते हैं, उन्हें भी दुःखी ही करते हैं। इन भोगियोंके द्वारा संसारको अभाव, चिन्ता, मद, ईर्ष्या, राग, द्वेष, लोभ मोह, काम एवं क्रोधादिका ही दान निरन्तर होता रहता है। वह

भोगी स्वयं तो भयंकर चिन्ता एवं दुःखोंमें जलता हुआ मृत्युको प्राप्त होता ही है, दूसरोंको भी नारकीय निम्न-गतियोंमें ही ढकेलनेका हेतु हो जाता है, क्योंकि वह बड़ा भोगी ही छोटे भोगियोंका आदर्श रहता है। भैया ! विषयी एवं भोगियोंसे, जो भी उनका संग करते हैं, उन्हें दुर्भाव-ही-दुर्भावका दान होता है, क्योंकि सत्-स्वरूप परमात्माका भाव वहाँ उनमें होता ही नहीं। दुर्भावसे पाप और पापसे नारकीय गति, निम्न-गतियोंका दुःख – इस प्रकार विषयीजनोंमें दुःखका अबाध चक्र चलता रहता है।

अतः, भैया ! मैं तो सदा यही चेष्टा रखता हूँ कि इन विषयीजनोंका क्षण-भरके लिये भी, मनसे भी संग नही हो और नित्य आनन्दमय प्रभुकी ओर ही हमारा मन निरन्तर प्रवृत्त रहे।

मनुष्यको जीवनमें दो बातोंका सर्वाधिक मोह होता है। (१.) निज शरीरको सुखी रखनेका (२.) अपने नामका। शरीरको मन-चाहा आराम मिलता रहे और लोगोंमें मेरा खूब सम्मान हो, खूब आदर हो, इस प्रकार – ये दो मोह परमार्थके मार्गमें बढ़नेवाले सन्तोंमें भी पाये जाते हैं।

भैया ! मैं तो बहुत विचारके बाद इसी निष्कर्षमें पहुँचा हूँ कि शरीरको सुखी रखनेकी चेष्टा एवं सम्मानकी चाह – ये दोनों ही वासनाएँ असार हैं। इनके पीछे जो भी दुर्लभ मानव-जीवनको बरबाद करनेकी धुन जगाये हैं, वे सर्वथा ही मूर्ख हैं।

मान लीजिये, लोगोंमें मेरी खूब प्रसिद्धि हो गयी, सबके मध्य मैं बहुत ही प्रतिष्ठित भी हो गया, मुझे लोग अपना सम्मान्य नेता मानने लगे, विदेशोंमें भी मेरा नाम-यश हो गया, परन्तु भैया ! सच बताइये, इससे मेरा क्या बना एवं बिगड़ा ? इस जन्मके पूर्व अनन्त जन्मोंमें हमारे अनन्त नाम रखे गये हैं, पता नहीं, हमारा कितना सुयश गाया गया है, परन्तु आज हमें उसकी स्मृति भी है क्या ? जैसे मैं अनन्त पूर्व-जन्मोंके अनन्त नामोंको भूल गया हूँ, वैसे ही मेरे इस जन्मके नामको भी मैं निश्चय ही विस्मृत कर जानेवाला हूँ।

शरीरकी भी यही दशा है, इसे चाहे कितने ही आरामसे रखा जाये, इसे अवश्यंभावी रोग-शोकके कष्टसे बचाया जा ही नहीं सकता। फिर, एक दिन तो इससे सर्वथा ही संबंध हटनेवाला ही है। इस शरीरके पहले भी हमारे असंख्य शरीर रहे हैं, वे दुःखपूर्वक, अतिशय दुर्दशा और कष्टमें मृत्युको प्राप्त हुए अथवा अत्यंत सुख-समृद्धि एव सुविधाओंसे मृत्यु-मुखमें गये, इसकी जैसे हमें आज कोई स्मृति नहीं है, वैसे ही, इस शरीरकी भी चाहे इसे कितने ही आरामसे रखा जाये, एक दिन स्मृति ही नहीं रहेगी। अतः बुद्धिमानी इसीमें है कि दोनों

वस्तुओंसे मन हट जाये और भगवान्‌के पावन नाममें लग जाय। इस शरीरका जो भी विधान भगवान्‌ने रच रखा है, वह होता रहे। हमारा ध्यान ही इस ओर कभी न जाये । इन सबसे सर्वथा उपराम रहकर बस, भगवान्‌में चित्त एक-तार जुड़ा रहे।

भैया ! मैं तो शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं करता। वैसे तो अभी भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अन्न, वस्त्रकी सभी व्यवस्था बहुत ही स्नेहपूर्वक कर रहे हैं, परन्तु यही समझमें आता है कि प्रत्येक प्राणीका प्रारब्ध उसके साथ है। फिर शरीर-निर्वाहके लिये चिन्तित होना कौन-सी बुद्धिमानी है। जब जगत्पालनकर्त्ता परमात्मा है, तो उनपर अविश्वास करके, अपने पालनकी चिन्ता स्वयं करना, घोर मूढ़ता ही तो है। भैया ! मुझे तो जगत्पिताके निर्भूल विधानपर ही आश्रित रहना, सर्व-सुखकर लगता है। प्रभुकी चिन्ताको मैं अपनी चिन्ता क्यों बनाऊँ ?

भगवद्विश्वासी त्रिकालज्ञ सन्तोंने यही कहा है कि हमें तो भगवान्‌के भरोसे नित्य कृतकृत्यता, निरन्तर आनन्द एवं अखण्ड निश्चिंततामें डूबे रहना चाहिये । मुझे तो भैया ! आप यही आशीर्वाद दें कि मेरा किसी भी शारीरिक उलझनसे चित्त उद्विग्न नहीं हो। प्रभुका अखण्ड आश्रय बना रहे। एक क्षणके लिये भी प्रभु-चरणोंकी शीतल छायाकी मैं विस्मृति नहीं कर पाऊँ।

साधु हो जानेपर भी लोग लोक-संग्रहकी घुड़दौड़में सम्मिलित हो जाते हैं। फिर उनका दिन-रात लोक-कल्याणकी चिन्तामें ही व्यतीत होने लग जाता है। प्रभुका भजन स्मरण तो सर्वथा छूट ही जाता है। मुझे तो भैया, यही अच्छा लगता है कि न तो लोक रहे, और न मैं ही रहूँ। मेरा तो सब समय मात्र भजन में ही व्यतीत हो। मेरे सम्मुख तो प्रभु ही जीवन्त खड़े रहें। अनन्त जीवोंके पालनकर्ताको जैसे जीवोंके शरीर-भरणकी चिन्ता है, वैसी ही उन्हें परमार्थदानकी चिन्ता भी होगी ही। हमारे द्वारा प्रभुको भुलाकर लोक कल्याणकी चिन्ता की जानी – मुझे तो अहंकारभरी क्रिया ही लगती है। जब प्रभुके द्वारा हमारी आवश्यकतानुसार सभी सांसारिक वस्तुएँ अन्न-वस्त्र, रहनेको आवास मिलता है, तो हमारी आवश्यकता देखकर, प्रभु हमें परमार्थदान भी करायेंगे ही। अनन्त जीवोंका पालनकर्ता हमें अपने ज्ञान और अपनी प्राप्तिका साधन-पथ नहीं बतावे, यह कैसे संभव है। भगवान् कीड़ेसे लेकर ब्रह्माजीतक सभीको उनकी सभी आवश्यकताएँ स्वाभाविक रूपसे सहज उपलब्ध कराते हैं, वे हमारे पारमार्थिक योग-क्षेमकी भी अवश्य ही चिन्ता करेंगे। हाँ, हमारी मलिन आँखें यह देख सकतीं हैं कि हमें आवश्यकता-भर नहीं मिल रहा है । परन्तु, भगवान्‌का निर्भूल

विधान किसी भी जीवको उसकी आवश्यकता-भर जैसे लोककी वस्तुएँ देता है, वैसे ही उसके परमार्थकी भी चिन्ता निश्चय उसे ही करनी होगी।

हमें शरीर एवं मन दोनोंकी व्याधियोंकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। जैसे शरीरकी व्याधियाँ आती-जाती रहती हैं, वैसे ही मानसिक काम-क्रोधादि व्याधियाँ भी आने-जानेवाली हैं। इनके आवेगको धैर्यपूर्वक सह जाना ही एकमात्र उपाय है। यह अवश्य है कि मानसिक व्याधियोंका आवेग चित्तको उद्विग्न करता है, परन्तु इनका आवेग सहकर ही इन्हें शमित किया जा सकता है। प्रभुका कृपा-विधान ही इन व्याधियोंसे हमारा समूल पिण्ड छुड़ायेगा।

आप मुझसे किन्हीं परमावश्यक विषयोंपर सलाह करने एवं मिलने आना चाहते हैं, सो उत्तम है। परन्तु प्रभुके परम मंगलमय विधानसे ही हमारा जो एक पारिवारिक संयोग था, वह वियोगके रूपमें व्यक्त हुआ है। अतः यदि मिलना न भी हो, तो इसे भी प्रभुकी कृपा ही माननी चाहिये। इस अवस्थामें अपनी सभी परमावश्यक बातें हम प्रभुको ही निवेदन कर दें। प्रभुके क्रियात्मक आदेशकी प्रतीक्षा करें। मेरा तो ऐसा पूर्ण निश्चय है कि सर्वज्ञ, सर्व-सुहृद प्रभु अपनी परम हितकारी एवं मंगलमयी राय आपके मनमें उत्थितकर आपका समाधान कर देंगे।

भैया ! मेरी राय तो यही है कि आपका गृहस्थ होनेके नाते इतना ही कर्तव्य है कि आप परम शान्त-चित्तसे, तनिक भी उद्वेग एवं चिन्ता नहीं रखते हुए, प्रभुके द्वारा जो भी सहज अर्थोपार्जनका विधान हो – उसे यथायोग्य सबके हितमें लगा दें। होगा तो वही जो प्रभु के द्वारा पूर्वतः रचा हुआ है।

करी गोपालकी सब होय ।
जो मानै पुरुषारथ अपनो, अति झूठो है सोय ।।

x x x

होइहि सोइ जो राम रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावै साखा ।।

ये सभी वचन त्रिकालज्ञ सन्तोंके हैं। भगवद्विधान तो निर्बाध सभीपर लागू होना ही है। जब सब खेल पहलेसे फिल्माया हुआ है और दृश्य ही सामने आनेवाला है, तो फिर चिन्ता कैसी ?

आप कह सकते हैं, कि स्वयं तो गैर-जिम्मेदारीसे सब छोड़कर चला गया और मुझे भी कर्तव्य-विमुख होनेकी बात लिखता है, सो ऐसा आशय मेरा कदापि नहीं मानें। जिस भगवद्विधानके अनुसार मैंने कर्तव्यका त्याग परमात्मामें लगनेके लिये किया, उसी भगवद्विधानकी रीलमें आपका पार्ट अभी गृहस्थमें बने रहनेका है। परन्तु, अपने-अपने नाट्य-चरित्रका भलीप्रकार पालन करते हुए

कोई पात्र इस अकाट्य सत्यसे क्यों अपरिचित रहे कि उसे रंगस्थलमें मात्र अपना पार्ट ही अदा करना है, चिन्ता-चितामें जलते हुए जीवन-यापन कदापि नहीं करना है।

जिस कर्तव्य-पालनके मिथ्या व्यामोहसे हम भगवान्से विमुख हों, वह हमारा कदापि कर्तव्य नहीं है। हमारी आसक्ति ही हमें उसे हमारा कर्तव्य समझा रही है। कर्तव्य-पालन करनेवाला जब भगवत्सेवा-भावसे कर्म करता है, तो उसे पद-पदपर कृतकृत्यता, आनन्द और निश्चिंतताका अनुभव होता है। हमारी संसार-यात्रामें पथ-चयनकी सही कसौटी यही होनी चाहिये कि प्रत्येक कर्म हमारा भगवत्पूजन हो रहा है या नहीं। और यदि भगवत्पूजन हो रहा है, तो प्रत्येक कर्मका पर्यवसान आनन्द, कृतकृत्यता और अखण्ड शान्तिमें ही होना चाहिये। प्रभुमें अखण्ड-आनन्द, अखण्ड-ज्ञान, और अखण्ड-सौहार्द है। अतः प्रभुसे जुड़े प्रत्येक कर्मका फल हमें कल्याण, आनन्द, शान्ति एवं कृतकृत्यतारूपी रस प्रदान करनेवाला ही होगा। यदि ऐसी हमारी स्थिति नहीं है और प्रभुकी उपासनारूप कर्मसे यदि हमें अशान्ति, चिन्ता, नीरसता, विषाद मिलता है, तो यह निश्चय ही मान लें कि वह क्रिया प्रभु-प्रसादका संस्पर्श नहीं प्राप्त कर रही है।

मनुष्य-जीवनमें मुझे तो दो ही कर्तव्य समझमें आते हैं। १. प्रभुपर अखण्ड विश्वास रहे कि वे ही मेरे सब लोक-परलोकका समुचित निर्वाह करेंगे और २. जिह्वाद्वारा भगवान्‌का नाम निरन्तर लिया जाता रहे। ये दो कर्तव्य पालन होते रहें, तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द रहेगा।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - सत्रह (१७)

भगवान्‌का आश्रयही एकमात्र कर्तव्य

पत्र-प्रेषक :

परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र-प्रेषिति :

श्रीतारादत्तजी मिश्र

ग्राम, पो. फखरपुर (गया) (बिहार)

लेखन-स्थल : — *प्राप्ति-सूत्र :*

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली, ग्राम, पो. रतनगढ़, बीकानेर — **श्रीदेवदत्तजी मिश्रके पत्र-संग्रहकी कापीकी प्रतिलिपि**

दिनांक :

१२-१-४१ ई.

पू. तारादत्त भैया !

सादर प्रणाम। आपका पत्र मिला। पत्र पढ़नेके पश्चात् बहुत विचारकर यह पत्र लिख रहा हूँ।

आजतक जितने भी उच्च-शक्ति-सम्पन्न सन्त हुए हैं, उन्होंने भगवान्‌के संबंधमें अपना यही अनुभव जताया है कि भगवान् हैं तो सही, परन्तु वे यथार्थतः कैसे हैं, इसे मात्र वे ही जानते हैं; दूसरा आजतक न तो कोई जान पाया है, न भविष्यमें ही कभी कोई जान सकेगा। साथ-ही-साथ सन्तोंका यह भी अनुभव है, कि उन भगवान्‌के विधानसे प्रत्येक जीवके लिये जो भी प्रारब्ध घटित हो रहा है, उसीमें उस जीवका अनन्त मंगल निहित है। इसीलिये, भैया ! सभी सन्तोंका एकमतसे यही आग्रह रहता है – भगवान्‌से कुछ न चाहकर हम अपने-आपको सर्वथा-सर्वांशमें उन पर ही छोड़ दें ।

मुझे तो आपके लिये भी यही सर्वोत्तम साधन समझमें आ रहा है कि आप भी अपने-आपको निरवलम्ब भगवान्‌पर ही छोड़ दें ।

अपनी ओरसे इतना ही साधन करें कि जिह्वासे भगवान्‌का नाम-जप होता रहे। मनसे यथाशक्ति उनका स्मरण हो; फिर जो हो, उसीमें हम निश्चिंत होकर परमानन्द मानें।

भगवान्की बड़ी कृपा है कि आपको संसार एवं परिवारकी आसक्ति, दोषके रूपमें दीख रही है। अपनी धर्मपत्नीके प्रति मोह और धनके लिये व्याकुलता होना — यह दोष तो सभीमें थोड़े-बहुत रूपमें होता ही है, परन्तु इसे आप अपने दोषके रूपमें जान-पहचान रहे हैं, यह भगवान्की कृपाका ही फल है,। अब जिनकी कृपासे ये आसक्तियाँ आपको दोष रूपमें दीख रही है, इनका समूल मिटना भी उन प्रभुकी कृपासे ही होगा। प्रयत्नसे मनुष्य इनको न्यून तो कर सकता है, परन्तु इनके समूल नाशके लिये प्रभुसे रोकर प्रार्थना करना ही एकमात्र उपाय है।

भैया ! जिन प्रभुके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डों-भरे विश्वका सृजन एवं विनाश संभव हो सकता है, उनके लिये एक जीवकी आसक्तिका नाश करना कौन बड़ा कार्य है ? हाँ, आवश्यकता इस बातकी है कि अपनी करुण प्रार्थनासे हम उन दयामय प्रभुमें ऐसा करनेकी चाह उत्पन्न कर दें।

आप कहेंगे कि प्रभु जब परम दयालु हैं और उनके संकल्प-भरसे ऐसा हो सकता है, फिर वे क्या मेरे लिये मात्र संकल्प-भर करनेमें भी दरिद्र हैं ? भैया ! इसका उत्तर यही है कि हम सच्चे हृदयसे इन दोषोंको दूर करना चाहते नहीं हैं। हममेंसे करोड़ों तो धर्मपत्नीके मोह और धनके लिये व्याकुलताको दोष ही नहीं मानते। आप-जैसे लोग, जो इसे दोष मानते हैं, वे भी इसे सत्संग और शास्त्रोंके अध्ययन-मननके प्रकाशमें ही ऐसा मान रहे हैं; इन दोषोंसे सर्वथा मुक्त होनेकी उनकी तीव्रतम उत्कण्ठा सर्वथा नहीं है। आप-जैसे लोगोंका अन्तर्मन भी इन आसक्तियोंका समूल नाश नहीं चाहता, भीतरसे हमारी, आपकी इच्छा इनकी पूर्ति करनेकी ही होती है। साधु-महात्माओंके सत्संगको सुनकर किसी दोषको अपने भीतर देखकर उसे दोषरूपमें मान लेना यह सर्वथा द्योतित नहीं करता कि उसमें उस दोषके समूल नाशकी उत्कटतम अभिलाषा भी है। हम मात्र ऊपरसे ही इन दोषोंको 'दोष' कहते-समझते हैं, परन्तु हमारा मन भीतरसे पूरी तरहसे इनकी अभिवृद्धि ही चाह रहा है। हमारा मन इन दोषोंको अपने भीतर देखकर भयंकर जलन अनुभव नहीं करता। सचमुच ही कहीं यदि हमारे अन्तस्तलकी कातर माँग इनसे मुक्त होनेकी हो जाती, तो उसी क्षण प्रभु हमारी प्रार्थना सुन लेते और निश्चय ही हम सर्वथा दोष-मुक्त हो जाते।

हमारे भीतर जितने भी दोष हैं, वे मात्र इसीलिये हमारे हृदयरूपी घरमें डेरा डालें हैं, क्योंकि भीतर-ही-भीतर हम उन्हें बनाये रखना चाह रहे हैं। भगवान्का बल हमारे पास पहलेसे ही इतना पर्याप्त है कि यदि सच्ची चाह हो तो किसी भी दोषमें हमारे भीतर बने रहनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। परन्तु

भगवान्‌द्वारा प्रदत्त बलका पूर्ण दुरुपयोग करते हुए हमने ही इन सभी दोष-समुदायरूपी डाकुओंको बल प्रदान किया है, जिससे ये हमारे हृदयमें डेरा जमाये हुए हैं। इन दोष-समुदायरूपी लुटेरोंके पास इनका अपना स्वयंका बल तो कुछ भी नहीं है। हमारा अन्तर्मन, क्योंकि इन्हें बनाये रखना चाहता है, अतः वही इन्हें गुपचुप अपना बल देकर बली करता है। हमारे अन्तर्मनकी शह पाकर ही ये हठपूर्वक हमारे हृदयरूपी घरको आक्रान्त किये हैं।

एक बात और अति महत्त्वपूर्ण है, आप चाहे कितनी ही गिरी-अवस्थामें क्यों न हों, आपने जब एकबार भगवान् श्रीकृष्णको अपना सर्वस्व सौंपकर उनसे एकान्त, मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है, तो किसी भी बातके लिये चिन्ता करना, उनपर अविश्वास करना, आपके लिये घोर कलंक ही है।

भैया ! जब आप श्रीकृष्णके हैं, तो मन, वाणी और कर्मसे अब तो आपको सबका आश्रय त्यागकर एकमात्र उनका ही मुख जोहना चाहिये। भैया ! आपको तो जो भी आवश्यकता हो, सच्चे एकाश्रयी अनन्य साधककी तरह भगवान् श्रीकृष्णसे ही कहना चाहिये।

इस सम्बन्धमें भगवान् शंकर कहते हैं :-

सरः समुद्र नद्यादीन् विहाय चातको यथा
तृषितो म्रियते चापि साधनानि विचिन्तयेत् ।।

अर्थात्, प्यास बुझानेके लिये जल अन्य स्थानोंमें भी उपलब्ध है, सुलभ है, परन्तु चातक जिस प्रकार मात्र मेघसे ही याचना करता है, चाहे मेघ ओले बरसाकर उसे घायल ही कर दे, इसी प्रकार हमें याचनाके उद्देश्यसे अन्य किसीके भी पास नहीं जाना है। अपनी सम्पूर्ण नीचताओंको लेकर हमें तो भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही रोना है। भगवान् श्रीकृष्णको हमारी दशाका राई-रत्ती ज्ञान है। वे सर्व-समर्थ हैं और हमारे स्वामी हैं। यदि हम उनके होकर अपनी व्यथा उन्हें ही कहेंगे, तो वे हमारी व्यथा निश्चय ही सहृदयतापूर्वक सुनेंगे। थोड़ी देरके लिये मान लें कि वे हमारी – एक नगण्य जीवकी व्यथा सुननेका अवसर नहीं पावें, तो भी अन्य किसीसे कुछ भी याचना नहीं करके हम अपने चित्तमें तो संतोष कर ही सकते हैं कि हमने अपने धर्मका कुछ अंश तो पालन किया है।

समस्त त्रुटियों एवं आवश्यकताओंके लिये पतिव्रता स्त्री पतिका ही मुख जोहती है। अवश्य ही उत्तम पतिव्रतामें त्रुटि नहीं रहती, उसकी अपनी स्वतंत्र कोई आवश्यकता भी नहीं रहती। उसके मनमें यह दृढ़ विश्वास भी होता है कि पति हमारे लिये जो भी कर रहा है, वह ठीक ही कर रहा है। पतिका कोई भी

व्यवहार पतिव्रता स्त्रीको कभी अनुचित लगता ही नहीं। परन्तु यदि इस कोटिका हमारा मन न भी हो और त्रुटियोंसे मन पूरा उद्विग्न होता हो तो इस परिस्थितिमें भी स्त्रीके लिये, जैसे एकमात्र कर्तव्य यही है कि वह अपनी सब दशा अपने पतिसे ही निवेदन कर दे, उसी प्रकार हमें अपनी सब दशा भगवान् श्रीकृष्णको ही कह देनी चाहिये।

आपने जब अपने आपको और अपने जनोंको भगवान्‌को समर्पित कर दिया, तो आपसे सम्बन्धित सभीकी कर्मोंकी सम्पूर्ण लेख-राशि अब यमराजके पास है ही नहीं। आपकी एवं आपसे सम्बन्धित सभी जनोंकी सम्पूर्ण कर्मोंकी लेख-राशिकी फाइल अब यमराजसे सीधे श्रीकृष्णके पास ही चली गयी है। अब आपके एवं आपसे सम्बन्धित सभी जनोंके लिये जो भी विधान होगा, वह निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ही होगा। अब आपको या आपसे सम्बन्धित किसी भी जनको दण्डित किया जायेगा, तो वे ही अपने हाथों दण्डित करेंगे और यदि पुरस्कृत करेंगे, तो वे स्वयं ही पुरस्कारदाता होंगे।

आपने अपनी पत्नीके निरन्तर रोगी रहनेकी जो भी दशा वर्णन की, उसके सम्बन्धमें मेरा तो एक ही निवेदन है कि मंगलमय भगवान् श्रीकृष्णके विधानके अनुसार ही जो होना है, वह हो रहा है। यदि श्रीकृष्ण उसकी मृत्यु चाह रहे हैं, तो उसकी मृत्यु निश्चित है और वह होकर ही रहेगी और प्रभुका विधान यदि उसे जीवन दिये है, तो कोई भी रोग उसे मार नहीं सकता। आप भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अपने विश्वासमें शिथिलता कदापि मत आने दें, चाहे वह पत्नीकी रुग्णताको लेकर हो अथवा आर्थिक प्रश्नोंको लेकर। आपकी अर्थ-बहुलता अथवा अर्थ-दरिद्रता, आपकी पत्नीका रहना अथवा उसका भगवान्‌के धाम चले जाना – ये सभी निर्णय श्रीकृष्णके हाथों ही हो रहे हैं। आपका सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश जो भी होना है, वह सब अब प्रारब्धानुसार नहीं होकर, भगवान् श्रीकृष्णकी व्यक्तिगत, सर्वतंत्र-स्वतंत्र इच्छानुसार ही संपादित होना है। अतः जो भी भोगना है, वह तो भोगना ही है, उसे मिटाया जा ही नहीं सकता।

यदि आपका विधान प्रारब्धानुसार होता, तब तो नवीन शुभकर्मराशि द्वारा उस प्रारब्धमें कोई फेर-बदल भी संभव हो पाता, परन्तु अब तो क्योंकि आपका विधान ही कर्मजगत्‌के पास नहीं होकर सीधा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके कृपा-विधानद्वारा सम्पादित हो रहा है, तो अब वह अमोघ है। अतः अब तो जो कुछ भी रियायत हो सकती है, उनके ही द्वारा हो सकती है; अतः उनसे रोकर प्रार्थना करना ही अब अपना अवलम्ब शेष रहा है।

भैया ! क्या यह कम सौभाग्यकी बात है कि हम दोषी हों, नटखट हों और हमारे अपराधोंका वे अपने हाथों हमें दण्ड दें। क्या यह हमारा सौभाग्य नहीं है ? यदि आप बार-बार इन बातोंको मनमें लायेंगे तो मन शनैः-शनै इनको ग्रहण करने लगेगा। और एक बार भी यदि मन इन पवित्र प्रेम-जन्य भावोंमें रमने लगा, तो फिर इन भावोंसे ओत-प्रोत हमारा मन प्रत्येक दुःख-सुखमें अपने प्राणाराध्य प्रियतमका ही संस्पर्श प्राप्त करने लगेगा। और उनका संस्पर्श और वे, दो तो हैं ही नहीं, अतः हम उन्हें अपने सम्मुख प्रत्यक्ष देखनेकी आदत डाल लेंगे और उन पूर्ण लीलामयको हमसे खेल करता प्रत्यक्ष देख-देखकर प्रतिक्षण कृतार्थ होते रहेंगे।

मुझे तो पुनः-पुनः आपसे यही कहना है कि उनपर ही निर्भर होनेकी चेष्टा रखिये। आपकी पत्नीके प्रति जो भी आसक्ति है, जो धनके प्रति आसक्ति है, वह सभी आसक्ति, वे सबसे हटाकर मात्र अपने प्रति कर लें, यह उनकी कृपाके लिये बायें हाथका खेल है। उनकी कृपा कितनी बलशाली है, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते ।

भैया ! किसीके द्वारा सुनाई, इधर कुछ ही मास पूर्वकी एक घटना सुना रहा हूँ। व्रजमें गिरिराज-परिसरमें एक भक्त रहते थे। वह रहते थे, आन्यौर ग्राममें एक कुटिया बनाकर, परन्तु दिनमें गिरिराज-परिसरमें कुण्डोंके किनारे पेड़ोंके नीचे एकान्तमें बैठकर शान्त-चित्त भजन करते रहते थे। वे बहुत ही कम बोलते थे और निरन्तर नाम-जप करते रहते थे। वे किसी भी व्रजवासीको श्रीकृष्णरूपमें देखते हुए 'लाला' कहकर ही बोलते थे। उनके सम्मुख आनेवाला चाहे वृद्ध हो चाहे वृद्धा, चाहे युवक हो या युवती, चाहे बालक हो अथवा बालिका, वे तो उसे 'लाला' अथवा 'लाली' ही कहकर संबोधित करते थे। सभी व्रजवासी उनकी रहनीसे और भजन-निष्ठासे प्रभावित थे। उनका सर्वत्र पर्याप्त आदर था।

एक दिन वे वनमें एकान्त-स्थलमें चुपचाप शान्त बैठे भजन कर रहे थे। कदम्बका घना वृक्ष था, अतः उनका देह किसीकी दृष्टिमें भी नहीं आ रहा था। पासमें ही गोविन्दकुण्ड था। गोविन्दकुण्ड परिक्रमा-पथपर है, अतः वहाँ दिनमें परिक्रमा करते यात्री आते-जाते रहते हैं। महात्माजीको यात्रियोंसे क्या लेना-देना था, वे तो अपने भजनमें निरत थे।

गोविन्दकुण्डमें कोई परिक्रमा करता हुआ परदेसी यात्री आया होगा, उसने वहीं कुण्डके किनारे जल-पान किया एवं विश्राम करने वहीं लेट गया। कुछ काल पश्चात् उसका रुपयोंसे भरा मनीबेग किसीने चुरा लिया। यात्रीकी निद्रा खुली, तो उसने अपना मनीबेग इधर-उधर ढूँढा। वह जब उसे नहीं मिला

तो उसने चोरको खोजनेका प्रयास किया। उस यात्रीकी दृष्टि सहसा पेड़ोंके पत्तोंके मध्य छुपे महात्माजीपर पड़ी। उसने महात्माजीको चोर समझा। उसे इतना क्रोध आ रहा था कि बिना कोई पूछताछ किये ही उसने महात्माजीको पीटना प्रारंभ कर दिया। महात्मा वृद्ध और कृशकाय तो थे ही, निर्दयतापूर्वक पिटनेसे बेहोश हो गये। उसने महात्माकी सम्हाली ली, जब उसे उनके पास कुछ भी मिला नहीं, तो वह उन्हें बेहोश छोड़कर भाग गया। इधर गाँववालोंको जब पता लगा, तो वे महात्माजीको उठाकर अस्पताल लाये। कुछ उपचारके पश्चात् जब महात्माजीको कुछ होश हुआ, तो ग्रामवासियोंने उनसे मारनेवालेका हुलिया पुछा । महात्माजीकी दशा तो ऐसी थी, कि उन्हें सर्वत्र मात्र 'लाला', 'लाली' – दोकी ही सत्ता दिखती थी। अतः प्रत्येक प्रश्नकर्ताको वे यही उत्तर देते "लाला" ! तूने ही तो मार लगायी, अब तू ही सेवा कर रह्यो है। अरे, तू तो सबके घट-घटकी जाननेवालो है, मोते का पूछै है कि कौन मार गयौ ? तू ही तो मार गयो थो।" अस्पतालकी नर्स जब उनकी पट्टी करने आयी, तब भी उनकी यही उक्ति थी। 'लाली', 'लाला' ने मार लगायी और अब तू पट्टी करै है, कर दै।" इसी प्रकार पुलिस इन्सपैक्टरको भी महात्माजीने यही उत्तर दिया- "भैया ! और कौनकी सामर्थ्य है कि मोहे मार सकै। मोहे तो 'लाला' ही मारै है और 'लाला' ही तारैगो। मेरो या संसारमें और कौन है भैया ?"

भैया ! वे सच्चे महात्मा थे, उनकी आँखें खुली थीं, अतः उन्हें सत्य स्पष्ट, प्रत्यक्ष दिखने लगा था। उन्होंने इसे पूरी तरह हृदयंगम कर लिया था कि उनके इष्ट, प्रियतम श्यामसुन्दरकी इच्छाके बिना पत्ता भी हिल नहीं सकता है, फिर जो भगवान्‌के समर्पित सेवक हैं, स्वयं भगवान्‌के सिवा किसकी हिम्मत है जो उनके रोमको भी क्षति पहुँचा सके। हाँ ! किसी अवश्यंभावी कर्मविपाककी पूर्तिके लिये श्रीकृष्णने ही अपने हाथों उन्हें मार लगायी है, अब जब मारा है, तो वही उपचार करने भी आया है।

भैया ! मैं अधिकांश महात्माओंके अनुभवका सार आपको लिख रहा हूँ – "यह संसार अनित्य है, इसमें सुख है ही नहीं। सुख चाहते हो, तो भगवान्‌का भजन करो।"

वास्तवमें आपको जो स्त्री-परिवार, खेत-खलिहान, घरकी ऊँची-नीची परिस्थिति झकझोर रही है, उसे सर्वथा-सर्वथा सत्य मत मानिये। अपनेद्वारा देखे-समझे विश्वको मायाका मिथ्या खेल समझकर भगवान् श्रीकृष्णको, जो सर्व मायाधीश्वर हैं, उन्हें उनकी माया सौंप दीजिये। पीलियेके रोगीको संसार पीला दृष्टिगोचर होता है, उसे मिश्री, जो परम शुभ्र होती है, पीली ही दीखती

है। परन्तु वह रोगी है, उसकी दृष्टि शुद्ध कदापि नहीं है। उसके समझे एवं कहे वर्णको कोई भी प्रामाणिक नहीं मान सकता। जो स्वस्थ-व्यक्ति दृष्टि रखता है, वही प्रामाणिक मानी जाती है। इसी प्रकार, हम जिसे पत्नी-पुत्र, परिवार, अपने स्वजन, शत्रु-मित्र, राजा-प्रजा, जमींदार-खेतीहर देख रहे हैं, यह सब हमारी रोगी आँखोंका ही परिणाम है। स्वस्थ आँखें भक्तोंकी एवं सिद्ध-सन्तोंकी ही होती हैं। वे इन सभीके रूपोंमें अपने प्राणसारसर्वस्व प्रियतम श्रीकृष्णको ही नाट्य करते देखते हैं। उनके लिये जगत् है ही नहीं। जगत्‌की व्यवहारिक एवं पारमार्थिक — दोनों प्रकारकी सत्ता उनकी दृष्टिमें मात्र श्रीकृष्ण ही हैं। अतः वे महात्मागण उन्हें ही सर्वत्र देख-देखकर उनके लीलामय रूपको सतत प्रणाम करते रहते हैं।

भैया ! आप परम बुद्धिमान् हैं। केवल बुद्धि पलटनेकी ही आवश्यकता है। जहाँ आप पत्नीकी अनवरत बीमारीसे दुखी, चिन्तित, विषादग्रस्त हो रहे हैं, वहीं जैसे ही आपकी बुद्धि भगवान् श्रीकृष्णको अपनी सच्चिदानंदमयी लीला करते देखेगी, बस, आपके आनन्दका पारावार ही नहीं रहेगा। पहले-पहले मनुष्यको विश्वास करके सन्तोंकी अनुभूत-दृष्टिका ही अनुकरण करना पड़ता है। फिर पीछे भगवान् कृपाकर उसे स्वयं भी अपना अनुभव कराने लगते हैं। जब स्वयं भगवान् उसे अनुभव कराने लगते हैं, फिर तो वह कहीं भी डिगता नहीं। नाशवान्, परम स्वार्थी, क्षण-भरमें ही स्वार्थसे शत्रु और क्षण-भरमें ही मित्र हो जानेवाला, कर्माधीन, कर्म-भोगके क्षय होते ही विनष्ट हो जानेवाला यह शरीर एवं इसके परिवारके पीछे भगवान्-जैसी अनमोल वस्तुको भुलाकर, ऐसे सुन्दर मानव-जीवनको व्यर्थ कर देना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। इस मिथ्या आशामें कि ये पत्नी-पुत्र-कलत्र हमें सुख देंगे, जीवनको बरबाद करना भारी भूल है। न-जाने हम कितने-ही परिवारोंको अपने विगत जन्मोंमें छोड़ आये हैं। उन पूर्वके असंख्य परिवारोंमें कितने ही इस समय भूखसे तड़पते हो सकते हैं, अनेक जन्मोंमें रही हमारी पत्नियाँ न-जाने कितनी भीषण रोग-पीड़ाओंसे आक्रांत होंगी ? परन्तु क्या हम उनकी चिन्ता करते हैं ? सभी तो प्रभुकी ही सम्पत्ति हैं। अतः इस परिवारको भी प्रभुकी ही सम्पत्ति समझकर, प्रभुको प्रभुकी वस्तु सौंपकर निश्चिंत हो जाइये। सबके योगक्षेमका आगे-से-आगे यथोचित प्रबंध लगा हुआ है।

भैया ! मेरी परम मंगलमयी बात मान लीजिये। आपका किसी भी परिस्थितिमें, किसीके लिये, कुछ भी शोक करना सर्वथा ही अनुचित है। आपका मात्र इतना ही कर्तव्य है कि जिह्वाके द्वारा भगवान्‌की परम मंगलमयी नाम-

सुधाका पान होता रहे एवं कानोंके द्वारा अपना ही उच्चारित किया हुआ नाम आप सुनते रहें। अब शेष रहा मन – इस मनका उनके त्रिभुवन-मोहन सौन्दर्यको निरखते हुए निरन्तर उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण – ये तीन काम हमारेद्वारा यदि निर्बाध हुए, तो चौथी बात – उनका साक्षात् दर्शन, वे स्वयं करायेंगे। यह दर्शनकी बात हमें उनपर ही छोड़ देनी चाहिये। वे जब उचित समझें, जैसा उचित समझें, करें। ये चार बातें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गोपीजनों को बतलायी हैं :– *श्रवणात् दर्शनात् ध्यानात् मयि भावानुकीर्त्तनात् ।।*

देवी पार्वतीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भगवान् शंकरने साधक एवं साधनाका बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है।

सुचिरं प्रेषिते कान्ते यथा पतिपरायणाः ।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगैवकांक्षिणी ।
तद्‌गुणान् भावयेन्नित्यं गायंत्यपि श्रृणोति च ।
श्रीकृष्ण-गुण-लीलादि- स्मरणादि तथा चरेत् ।।

भगवान्‌ने कितना सुगम साधना का स्वरूप कहा है। पति परदेशमें है, मन किसी भी विषयमें नहीं लगता, व्याकुलता बढ़ती जा रही है, मन-ही-मन सोचती है – उनमें निष्ठुरता तो है नहीं। अहा ! वे कितने कोमल-स्वभावके हैं, वे तो सब प्रकारसे निश्चय ही अतीव सुन्दर हैं। पूरा तो उन्हें तब जानती, जब देख पाती। केवल चित्र ही तो देख सकी हूँ। परन्तु चित्रके नेत्रोंसे ही कैसी प्रीति छलक रही है ? फिर जब उनका चित्र ही इतना प्रेम-भरा है, तो वे स्वयं कितने प्रेमसे भरे होंगे ? इस प्रकार मात्र चित्र देखकर ही एक-एक गुणोंपर मन मुग्ध होता रहे। बस, दिन-रात उनका चिन्तन होता रहे। फिर सर्वथा भूल जाय, इस संसारको, उसके दुःख-दारिद्र्य एवं अभाव-भरे स्वरूपको। जोर-जोरसे उनका गायन करने लग जाय। फिर स्थिर होकर उनकी बाट जोए, यदि कोई कुछ उनकी बात सुना दे, तो उसे अपना प्यारे-से-प्यारा मानकर, खूब दत्तचित्त होकर उसकी चर्चाका, परस्पर अनुस्मरण करे। इस प्रकार उनमें ही चित्त लगाये सम्पूर्ण जीवन बितावे। यें बातें अनहोनी सर्वथा नहीं हैं। पुनः एक बात दोहरा रहा हूँ, इसका अर्थ ही है कि यह बात परम अनमोल है। आप जैसे हैं, जो हैं, घोर पापी हैं, दुरात्मा हैं, अथवा भले-से-भले, सच्चे, अति चरित्रवान् हैं, भगवान्‌की दृष्टिमें आपके ये गुण-अवगुण कुछ भी अर्थ नहीं रखते। भगवान् तो मात्र आपके समर्पणको ही देखते हैं, अतः भगवान्‌से निवेदन करें –

योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च ।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम् ।।

अर्थात् हे मेरे प्रियतम प्रभु ! इस लोक-परलोकमें मुझसे सम्बद्ध सभी वस्तुएँ आपकी, आपकी, मात्र आपकी हैं। मैं आपकी सम्पत्ति हूँ, मेरा घर-परिवार, धन, खेत बस, सब आपका है।

भैया ! जिस दिन भी मन यह बात पूरी तरह स्वीकार कर लेगा, बस उसी दिवस सदा-सदाके लिये सब दुःख मिट जायेंगे। जबतक मन यह स्वीकार नहीं करता है, तभीतक चिन्ता होती है। प्रभुका दासत्व स्वीकार होते ही निश्चितता आ जाती है। अतः पूरी शक्ति लगाकर उनका हो जानेकी तय्यारी करें। भगवान् तो हमें पूरा स्वीकार किये हुए ही हैं। वस्तुतः तथ्य ही यह है कि हम उनके हैं । हमसे सम्बन्धित सभी वस्तुएँ भी उनकी ही हैं। परन्तु हमने झूठे ही उनकी वस्तुओंको अपनी मान रखी हैं और चिन्ताके बोझसे व्यथित होते रहते हैं। अतः आत्माकी सारी शक्ति लगाकर उनका हो जानेकी तय्यारी करें । सबसे यथायोग्य ।

आपका
चक्रधर

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - अठारह (१८)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु

पत्र-प्रेषक :

पू. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

(प. पू.श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीदेवदत्तजी मिश्र

माहेश्वरी विद्यालय, बड़ा बाजार, कलकत्ता

लेखन-स्थल :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,
ग्राम, पो. रतनगढ, (बीकानेर)

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीदेवदत्तजी मिश्रके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

दिनांक :
तिथि - पौष शुक्ला दसमी, सं. १९९७ वि.
तदनुसार, ७-१-४१ ई.

पूज्य देवदत्त भैया !

सादर सप्रेम प्रणाम ! आपका पत्र मिला । आपने भगवत्प्राप्ति अथवा अपने कल्याणका अतिशय सुगम साधन पूछा; साथ-ही-साथ आपने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वह साधन आपकी परिस्थितियोंमें आपके द्वारा कर सकने-जैसा होना चाहिये। आपके पत्रको पढ़कर, मैं विचारमें पड़ गया। बहुत सोचनेके पश्चात् यही निर्णय किया कि आपका पत्र भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको समर्पित कर देना चाहिये एवं उनसे ही आपके अनुरूप कोई सुगम साधन पूछना चाहिये। तदनुसार, आपका पत्र श्रीभाईजीको दे दिया गया था। उन्होंने आपको पत्रोत्तरमें निम्न श्लोकके भाव लिखनेको कहा है। अतः वे उनके बताये श्लोकके भाव लिखकर भेज रहा हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने अपने प्रिय सखा, साथ ही शिष्य, अर्जुनको अनेक कल्याणकारी साधन बताये हैं। साधन किये जानेपर ये सभी साधन परम श्रेष्ठ हैं। परन्तु भगवान्‌ने एक साधनको अर्जुनको दो बार जोर देकर करनेको कहा है। जिस साधनका भगवान् अपने गीताशास्त्रके नवें अध्यायके ३४वें

श्लोकमें वर्णन कर चुके हैं, उसीको पुनः अठारहवें अध्यायमें **'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः'** कहकर दोहरा रहे हैं – इसका अर्थ ही है कि भगवान्‌का यह सर्वगुह्यतम परम वचन जो उनके द्वारा दोहराया जा रहा है, कोई अतिशय महत्व रखनेवाला साधन है। अवश्य ही यह अति अनमोल, सुगम और शीघ्र कल्याण करनेवाला है, इसमें भगवान्‌की दृष्टिमें कहीं कोई विकल्प नहीं है। यह अति सरल है, अतः सभी परिस्थितियोंमें सभीके द्वारा किया जाना संभव है।

यह साधन चार चरणोंवाला है। इन चारों चरणोंमेंसे यदि एक भी चरणका साधन कोई कर ले, तब भी वह अपना कल्याण कर सकता है। एक चरणका साधन करनेमात्रसे ही साधकके द्वारा चारों चरण स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं। श्रीभाईजी-जैसे महासिद्ध सन्तने आपको यह साधन बताया है, अतः निश्चय ही यह आपको सिद्धि प्रदान करेगा – इसमें कहीं कोई संशय मुझे तो नहीं है। यह अति महत्त्वकी बात है कि पहले तो गीताशास्त्रमें वर्णित होनेके नाते यह स्वयं भगवान्‌द्वारा सम्पूर्ण विश्वके मानव-मात्रको बताया गया परम हितकारी साधन है; दूसरे फिर व्यक्तिशः आपको श्रीभाईजी-जैसे पुरुषने संकेतित करके दिया है, अतः यह आपके लिये तो महामंत्र हो गया है। आप इसपर बढ़ चलिये और अपने प्राणोंकी सम्पूर्ण-शक्ति लगाकर इसे कर जाइये।

श्रीमद्भगवद्गीताका यह अनमोल भगवद्वाक्य है :–

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।

अर्थात्, हे अर्जुन ! क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय (सखा, शिष्य, साथ ही शरणागत भी) है, अतः मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि यदि तू उपरोक्त चार चरणोंवाला यह साधन करेगा, तो निश्चय ही मुझे प्राप्त हो जावेगा। ये चार साधन हैं (१.) मन्मना भव (२.) मद्भक्तः (३.) मद्याजी एवं चौथा तथा अन्तिम साधन है, **'मां नमस्कुरु'**। अब मैं आपके लिये इन चारों साधनोंके कुछ रहस्यपूर्ण भाव, जो श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) अपने सत्संगोंमें अनेकों बार खोलकर प्रकट कर चुके हैं, आपको लिख दे रहा हूँ ।

पहला भाव है – **'मन्मना भव'** – इस साधनमें हमें कुछ भी अपनी ओरसे नहीं करना है, मात्र भगवान्‌के मनवाला हो जाना है। वास्तवमें, जो पुरुष भगवान्‌के दिव्य गुण, रहस्य, और प्रभावको यथार्थ रूपसे जान लेता है, सन्तों एवं शास्त्रोंकी वाणीद्वारा उन्हें जानकर, उनपर पूर्ण विश्वास कर लेता है, वही अपना मन भगवान्‌को समर्पितकर भगवान्‌के मनवाला हो सकता है। मनुष्य बहुत ही स्वार्थी है, वह अपना मन वहीं लगाता है, जहाँ उसकी सर्व स्वार्थसिद्धि

हो। भगवान् शंकर अपने हृदयका सर्वोत्तम विश्वास प्रकट करते हुए श्रीरामचरितमानसमें अपनी प्राणप्रिया प्रेयसी पार्वतीजीके सम्मुख कहते हैं –

''उमा राम सुभाउ जेहिं जाना, ताहि भजनु तजि भाव न आना ।।

''हे उमा ! जो भगवान् रामका स्वभाव (मन) जान लेते हैं, उन्हें भगवान्के भजन (मनवाला होने) के अतिरिक्त, अन्य कुछ भी रुचिकर नहीं लगता।'' दरिद्र मनुष्यको कहीं देवमणि पारस मिल जाय, तो वह भला दूसरी ओर मन लगा सकता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार, जब हमारा मन ठीक यह अनुभव कर लेगा कि भगवान् ही परम-तत्त्व हैं, वे सर्वत्र हैं, वे हमारे मनकी प्रत्येक बात भली-प्रकार से जानते हैं, वे हमें, हमारे सब मनोरथोंका दान दे सकते हैं, वे सर्वसमर्थ हैं, हमारे परमातिपरम सुहृद हैं, हमारे कल्याणके, हितके, हमारे सब प्रकारके मंगलके वे हेतु हैं, भगवान् ही हमारे एकमात्र आधार हैं, वे ही एकमात्र हमारी गति हैं, वे दिव्य गुण-निधान हैं, वे सम्पूर्ण सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यकी एकमात्र निधि हैं, वे हमें अनन्त प्रेम करनेवाले, हमारे एकमात्र प्रेमी हैं, वे आनन्द-कन्द-विग्रह हैं, वे हमें गले लगानेके लिये सदा हाथ पसारे खड़े हमारी बाट देख रहे हैं, वे परम दयालु हैं, भक्तवत्सल हैं, दीनबन्धु हैं, हमको जो कुछ चाहिये, भगवान् उस सभीका भण्डार हैं, हमें ज्ञान चाहिये तो भगवान् ज्ञान-स्वरूप हैं; हमें प्रेम चाहिये तो भगवान् अनन्त-प्रेममय हैं; आनन्द चाहिये तो भगवान् आनन्दघन हैं; हमें वैराग्य चाहिये तो भगवान् परम वैराग्यवान् हैं; हमें धन चाहिये तो सम्पूर्ण धनकी स्वामिनी लक्ष्मीजी अपनी सम्पूर्ण चंचलता छोड़कर भगवान्के चरणोंकी सेवा करती रहती हैं; हमें ऐश्वर्य चाहिये, तो सारा जगत् उन्हींके ऐश्वर्यके मात्र एक कणकी छायाका प्रकाश है; यश चाहिये, तो विश्व-ब्रह्माण्डकी सारी, यशस्विता भगवान्के एक रोमसे निकलती है। सारांश यही है कि संसारमें हम जो कुछ भी सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम, स्नेह, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धन, भोग, सुख, समृद्धि देखते हैं, और इन सब वस्तुओंके संबंधमें जहाँतक हमारी ऊँची-से-ऊँची कल्पना होती है, हो सकती है, वह सब कुछ हमें भगवान् सहज ही दे सकते हैं; हमारे इस जगत्के पदार्थ और पदार्थोंकी हमारी कल्पना, भगवान्के अखिल सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्यादि सद्गुणोंके सागरकी एक बूँदकी बराबरी भी नहीं कर सकती। जो व्यक्ति इस प्रकार भगवान्के स्वभाव (मन) को जान लेता है, साथ ही भगवान्के स्वभाव (मन) पर दृढ़ विश्वास कर लेता है, वह आधे क्षणके लिये भी भगवान्को छोड़कर अन्यत्र मन नहीं लगा सकता। वह जगत्के क्षणिक भोगोंके उदय और विनाशमें भला हर्ष एवं शोक कैसे करेगा ? अवश्य ही भगवान्के प्रति उसका विश्वास सच्चा

होना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें राजा मुचुकुन्दसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते ।
मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ।।

(श्रीमद्भागवत १०।५१।४४)

"हे राजर्षे ! मुझसे वर माँगो, मैं तुम्हारे सम्पूर्ण मनोरथों एवं कामनाओंकी पूर्ति कर सकता हूँ। जो भी प्राणी मेरी शरण ग्रहण कर लेता है, उसे फिर कभी भी कुछ भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नही है, उसके सभी मनोरथ मेरेद्वारा पूरे होते हैं।"

जीवनमें बहुतसे ऐसे नाजुक अवसर आते हैं, जब हम समझते हैं कि भगवान् तो परम निर्दयी हैं, भला हम भगवान्‌के मनवाले कैसे हो सकते हैं ? भगवान् तो सदा हमारे मनके विपरीत ही करते हैं, उनका भजन करनेके उपरान्त भी हमें बहुत ही प्रतिकूल कटु-विषके घूँट पीने पड़ते हैं, भगवान्‌के विधानमें हमारे प्रति दया है ही कहाँ ? यदि उनमें दया होती, तो उनका हमारे प्रति ऐसा प्रतिकूल विधान क्यों होता ?

इस प्रकार भगवान्‌के प्रति बहुत ही अविश्वास एवं शिकायतका भाव होनेपर भी, जो वस्तुस्थिति हमारे प्रतिकूल होती है, जो भी विधान विपरीत क्रियाशील हो रहा है, वह तो बदलता नहीं, उलटे और विपरीतताएँ लेकर वह प्रभुका विधान (मन) हमारे सम्मुख आने लगता है। हम चाहते हैं — अमुक व्यक्ति जीवित रहे, वह मर जाता है; हम चाहते हैं — हमारा अपमान, बेइज्जती नहीं हो, हमपर यह दुःख-भरी परिस्थिति नहीं आवे, परन्तु वह आ ही जाती है। दूसरे शब्दोंमें जिन-जिन चिन्ताओंसे हम चिंतित रहते हैं, वे भगवान्‌की दृष्टिमें सर्वथा महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं और जिन परिस्थितियोंको हम टालना चाहते हैं, वे भगवान् हमपर लागू कर देते हैं।

परन्तु उस समय हमें दृढ़ निश्चयपूर्वक यही विश्वास करना चाहिये कि जिस प्रकार सूर्यमें वह शक्ति है ही नहीं कि वह किसीको अन्धकारका दान कर सके, उसी तरह भगवान्‌में भी यह शक्ति नहीं है कि वे किसीपर अकृपा कर सकें। भगवान्‌के लिये किसीका अहित करना संभव ही नहीं है। संभव है, ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि हमें दर-दरका भिखारी बन मारा-मारा फिरना पड़े, परन्तु ऐसे भीषणतम प्रतिकूल विधानमें भी निश्चय ही भगवान्‌की परम मंगलमयता ही चरितार्थ हुई है, हो रही है, यह अकाट्य एवं परम सत्य है। हमारे प्रति घटित होनेवाले इस भीषणतम प्रतिकूल विधानमें क्या और कौनसी

महा-महामंगलमयी कृपा भरी है, भगवान्का क्या दयामय हेतु है, यह तो मात्र वे ही जानते हैं। परन्तु हम भगवान्के मनवाले हो जावें, इसका यही तात्पर्य है कि उस अवस्थामें भी हमें कभी दुःख नहीं हो, भगवान्के प्रति अविश्वास नहीं हो, और हम उस अत्यंत भयानक भगवद्विधानको हमारे लिये परम मंगलमय ही मान लें ।

यह सत्य है, दुःखके साथ मनुष्य प्रायः चंचल हो जाता है, उस समय भक्तिके सुन्दर भावोंको, विश्वासकी हरी-भरी बेलिको पल्लवित करनेमें हमें कठिनताका अनुभव होता है। यह स्वाभाविक ही है। परन्तु हमें अति सावधानी-पूर्वक यही साधना करनी है कि कठिन-से-कठिन विपत्तिके अवसरपर भी हमारा मन भगवान्के प्रति सदा अनुकूल भावोंसे भरा रहे और हम भगवान्के मनको अपना मन बनाते हुए उस प्रतिकूल-से-प्रतिकूल विधानमें भगवान्की अनन्त दया एवं, कृपाका ही अन्वेषण करें ।

भगवान्का स्वभाव (मन) कैसा है, इसे बताते हुए श्रीमद्भागवतकार कहते हैं –

''अहो बकीयं स्तन कालकूटं जिघांसयाऽपाययदप्य साध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितं ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।

अर्थात् – ''अहो ! आश्चर्य है, इस पूतनाने अपने स्तनोमें कालकूट विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपना स्तन पिला दिया। ऐसी असाध्वी (बाल-हत्यारिणी) को भी जिन श्रीकृष्णने अपनी धात्री, यशोदाकी गति प्रदान कर दी, ऐसी अनन्य दयालुता किसमें एवं कहाँ ढूँढ़नेमें मिलती है ? ऐसे भगवान्को छोड़कर और किसकी शरण ली जावे ?''

बात यही है कि हमारा ईश्वर एवं शास्त्रोंपर प्रत्यक्षकी तरह विश्वास नहीं है। भगवान्की सत्ताके विश्वासमें हमें प्रह्लादजीको सदा आदर्श मानकर याद रखना चाहिये। प्रह्लादजीपर एक नहीं, अनवरत विपत्तियाँ आती ही गयीं। उनके पिता ही उनके दुर्दान्त शत्रु हो गये। वे असुरराज थे, सम्पूर्ण पृथ्वीपर उनका एकछत्र शासन था। बड़े-बड़े दिग्पति उनके भयसे काँपते थे। हजारों दिग्गज-बली दानव, छोटे-से पाँच वर्षके वयके बालक प्रह्लादजीको मारने चले। अहा ! कितने भगवद्विश्वाससे भरे प्रह्लादजी उन असुर-दानवोंको संबोधित करते हैं :–

''विष्णु शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः ।
दैतेयास्तेन सत्येन माक्रामन्त्वायुधानि च ।।

(विष्णुपुराण १।१७।३३)

''हे असुरों, दानवों और दैत्यों ! मेरे परमात्मा विष्णु सर्वव्यापक हैं। वे इन

शस्त्रोंमें भी हैं, तुम सबके रोम-रोममें वे ठसाठस भरे हैं, वे मुझमें हैं और सब जगह हैं। यह परम सत्य है और मेरी मन-बुद्धिमें यह सत्य प्रत्यक्ष है। अतः इस परम सत्यके प्रभावसे तुम्हारे इन शस्त्रास्त्रोंका मुझपर तभी कोई प्रभाव होगा, जब मेरे प्रभु मुझे पीड़ा देना चाहेंगे; अन्यथा इन शस्त्रास्त्रोंका मुझपर कोई असर हो नहीं सकता। हाँ, मेरे प्रभु यदि पीड़ा भी देंगे, तो उसमें निश्चय मेरा परम हित एवं मंगल ही छुपा होगा।"

भगवान् प्रह्लादजीकी रक्षा कर रहे थे; अतः दैत्योंके सभी शस्त्र व्यर्थ गये और उनके आघातने प्रह्लादजीका बाल भी बाँका नहीं किया। उन्हें तनिक भी वेदना, वे दैत्य नहीं पहुँचा पाये।

विश्वास करें, विषधर सर्प हमें तभी काटेंगे, जब भगवान् चाहेंगे। अन्यथा घोर-से-घोर विपत्तिमें भी हमारा कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। और भगवान्के द्वारा यदि हम दण्डित होंगे, तो उसी प्रकार हमारी उत्तमोत्तम गति अवश्यंभावी है, जैसी गति भगवान्द्वारा प्राण-हरण करके पूतनाको प्राप्त हुई, भगवान्द्वारा सर्वस्व हरण करनेपर प्रतापी राजा बलिको प्राप्त हुई; राजा मोरध्वजको पुत्रकी मृत्युपर प्राप्त हुई; दर-दरका भिखारी और चांडालका दास बनाकर भगवान्ने राजा हरिश्चन्द्रको प्रदान की।

अतः हमें जगन्नियन्ताके परम मंगलमय विधानमें अपना मन एक करके सदा-सदाके लिए निश्चिंत हो जाना चाहिये, क्योंकि अनादिकालसे आजतक भगवान्ने जिन-जिनको तनिक भी कष्ट दिया है, तो परिणाममें उनका महान् हित ही हुआ है। फिर यदि हमें भगवान्के द्वारा कुछ भी कष्ट दिया जा रहा है, तो निश्चय ही हमारा भी वे परम मंगल, असीम हित ही कर रहे हैं। हो सकता है, भूलसे ही हम अत्यंत भयानक वस्तुको सुखदायक समझ रहे हों। राजा बलि राज्यमदमें इतने अभिभूत हो गये थे कि भक्तराज प्रह्लादजीको, जो उनके पितामह थे, भगवान्से उनके हितके लिये प्रार्थना करनी पड़ी और भगवान्ने राजा बलिको उस भयानक राज्यमदसे निर्दयतापूर्वक वंचित कर दिया। इसी प्रकार, हमारा मनचाहा अनुकूल विधान, संभव है हमारे लिये परिणामतः महान् अहितकारी हो, इसे हम अपनी सीमित शरीरगत बुद्धिसे नहीं जान पाते हों और भगवान् जो हमारे सभी भूत-भविष्यको भली प्रकारसे जानते हैं, वे हमारी तरह अबोध तो हैं नहीं, इसलिये संभव है, वे हमारी मनचाही अहितकारी वस्तु हमें न देकर हमारा जीवन बरबाद नहीं करना चाहते हों और उस अहितकारी वस्तुसे हमें अति निर्दयापूर्वक वंचित कर दे रहे हों।

भगवान्के मन एवं स्वभावको जाननेके लिये, भगवान्के असीम सौहार्दको

पहचाननेके लिये हमें भगवद्भक्तोंका स्वभाव समझना एवं देखना चाहिये।

प्रह्लादजीको मारनेके लिये दानवराज हिरण्यकशिपुके पुरोहितोंने 'कृत्या' उत्पन्न की, परन्तु कृत्या जब भक्तराज प्रह्लादके तेजको असह्य समझ, उन्हें मारनेमें निष्फल हुई, तो उसने उन सभी पुरोहितोंको मार डाला। भक्तराज प्रह्लाद इतने दयालु थे, कि वे उन निरपराध पुरोहितोंका कृत्याके द्वारा मारा जाना सहन नहीं कर सके। उन्होंने देखा, बिचारे पुरोहित तो निर्दोष हैं; यदि वे दानवराजके कथनानुसार कृत्यां उत्पन्न नहीं करते, तो उनके पिता दानवराज उन्हें मार डालते। अतः वे भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहते हैं –

''यथा सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी जगद्गुरुः ।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्येते पुरोहिताः ।।
यथा सर्वगतं विष्णु मन्यमानोऽनपायिनम् ।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्येते पुरोहिताः । (पद्मपुराण)

अर्थात्, सर्वव्यापी जगद्गुरु भगवान् विष्णु सब प्राणियोंमें व्याप्त हैं, हे प्रभो ! यदि मैं इस सत्यका ठीक अनुभव कर रहा हूँ, तो मेरे इस सत्यके प्रभावसे ये पुरोहित जीवित हो जावें। यदि मैं सर्वगत और अक्षय भगवान्को, मुझे मारनेकी चेष्टा करनेवालोंमें भी लबालब भरा देखता हूँ, तो इस सत्य से ये पुरोहित जीवित हो जावें। भक्तराज प्रह्लादजीकी सुदृढ़ ठोस आस्तिकतासे पुरोहित जीवित हो गये ।

हमें विचार करना चाहिये कि भगवान्के भक्त ही जब इतने दयालु होते हैं कि अपने मारनेवालेको भी जीवित देखना चाहते हैं, तो भगवान् कितने दयालु होंगे ?'

जीवके मनमें स्वाभाविक ही प्रभुके प्रेमका स्रोत है। जीव परमानन्द-स्वरूप परम-प्रेमरूप भगवान्का ही सनातन चिदंश है। विषयोंके प्रति उसके मनकी शक्ति प्रवाहित होनेसे उसके प्रेमकी धारा दूषित हो गयी है और इसीसे यह विशुद्ध धारा घोर दुःखको उत्पन्न करनेवाले कामके रूपमें परिणत हो गयी है। भगवान् अपने अत्यंत आत्मीय स्वभावसे जीवका ऐसा विधान करते हैं – जिससे उसकी विषयाभिमुखी गति पलटकर परमात्ममुखी हो जाय। इसीलिये भगवान् जननीकी गोदसे पुत्रको छीन लेते हैं, जिससे वह उसके मोहसे स्वरूपतः हटकर परमात्ममुखी हो सके। भगवान् निष्ठुर सर्वथा नहीं हैं कि पति-पत्नीके प्रेमभरे सम्बन्धोंको छिन्न-भिन्न कर दें। वे जागतिक प्राणियोंकी भाँति ईर्ष्यालु कदापि नहीं हैं, जो हमारा सुख-सम्भान, कीर्ति सहन नहीं कर पावें और उसे नष्ट कर दें।

जो ऐसा समझते हैं कि विषयोंमें आसक्त रहते, यथेच्छ अमर्यादित विषयोंका संग्रह एवं उपभोग करते हुए भी भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो जायेगी, वे बहुत ही बड़ी भूलमें हैं। भगवद्भक्तिके मार्गमें विषय और विषयासक्तिका त्याग अवश्यंभावी है। इसीलिये, भगवान् हमें अपने स्वरूपानन्दका परमामृत पान करानेके लिये ही विषय-विषका प्याला बलात् हमारे हाथसे छीन लेते हैं।

भक्तिमें तो अपने भोगके लिये कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। जब भोक्ता ही भगवान्‌के चरणोंका दास हो जाय, तो भोग्य-वस्तु कहाँसे रहे ? भक्तिमें तो एकमात्र प्राणाधार भगवान् ही सर्व-भोक्ता हैं। ऐसी अवस्थामें भक्तका अपना कोई भोग्य विषय रह ही नहीं पाता। अतः विषयोंका और विषयासक्तिका उत्तरोत्तर त्याग करना ही पड़ता है। हम समझते हैं, कि विषयभोगमें सुख है, परन्तु भगवान् तो हमारी तरह अबोध, अज्ञानी हैं नहीं। वे ठीक समझते हैं – जबतक इसका शरीर विषयभोगमें लगा होगा, और मन विषयोंमें आसक्त रहेगा, तो फिर यह स्वरूपानन्दके असीम, अमाप उदधिसे वंचित ही रहेगा। मन जबतक स्वरूपानन्दसे कटकर विषयाभिमुखी रहेगा, तो वह सदा क्षुद्र कामकी विषभरी ज्वालामें ही जलता रहेगा; क्योंकि यह नियम है, कि मन जिस वस्तुका चिन्तन करेगा, उसीमें उसकी आसक्ति होगी।

भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है :–

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ।।

अर्थात्, विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेसे वह मुझमें लीन हो जाता है।

मनको जहाँ लगाओ, वहीं लग जाता है, और वह लगाना होता है इन्द्रियोंके द्वारा ही। हम बार-बार जिस प्रकारके दृश्योंको देखेंगे, जैसी बातें सुनेंगे, जैसी चीजें खायेंगे, जो कुछ सूँघेंगे, जैसी वस्तुका स्पर्श करेंगे, उन्हींका मनमें बार-बार चिन्तन होगा और जिस वस्तुका अधिक चिन्तन होगा, उसी में आसक्ति होगी। अतः भगवान् हमारे आत्यन्तिक और दूरगामी हितको देखकर ऐसा विधान ही बना देते हैं कि हमें बरबस भगवान्‌के प्रतिकूल सम्पूर्ण विषयोंका ही त्याग कर देना पड़े।

इसीलिये, हमें विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌का मन सदा हमारा परम हित ही सोचता है, वह हमारा परम सुहृद, सदा हमारे आत्यंतिक कल्याणकी ही कामना करनेवाला है।

बात यह है कि विश्वास और श्रद्धा करनेसे ही उनकी प्राप्तिका साधन

प्रारंभ होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है कि ***'संशयात्मा विनश्यति' (गीता ४-४०)*** अर्थात् जो भगवान्‌के सौहार्दयुक्त 'मन' पर ही अविश्वास, अश्रद्धा करते हैं, उनका तो विनाश निश्चय ही है।

हम विचार करें, भगवान्‌के मनमें अपना मन मिलाकर उनका निरन्तर भजन एवं गुणगान करनेवाले कैसे विलक्षण और असंख्य महात्मागण हुए हैं ? उनमेंसे प्रमुख भक्तोंका यहाँ उल्लेख किया जाता है –

देवर्षि नारद - ये ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं और सदा ही भगवान्‌के मनमें ही अपना मन मिलाये रहते हैं। ये भगवान्‌के मनसे अपना मन इतना अधिक एकत्व किये हुए हैं कि इन्हें अनेक ऋषि, मुनि 'भगवान्‌का मन' ही बतलाते हैं। मात्र एक बार इन्होंने भगवान्‌के मनके विपरीत अपनी इच्छा व्यक्त की थी । भगवान्‌ने इन्हें जो रूप दे रखा था, उस रूपके विपरीत इन्होंने भगवान्‌के समान रूप चाहा था और विवाह करनेकी इच्छा भगवान्‌के सम्मुख व्यक्त की थी। भगवान्‌ने इन्हें शिक्षा देनेके लिये बन्दरका चेहरा प्रदान कर दिया। अपने मनकी कामनाका, इस प्रकार भगवानद्वारा उपहास कर दिये जानेपर, इन्होंने भगवान्‌को ही श्राप दे दिया था। जिस श्रापको स्वीकार करनेके कारण भगवान्‌को भी पत्नी-वियोगमें बिलखना पड़ा था और सीताजीकी खोजमें बन्दरोंकी सहायता लेनी पड़ी थी। बस, इस एक उदाहरणके अतिरिक्त नारदजी सदा भगवान्‌में ही अपना मन मिलाये रहे। भगवान्‌के प्रति किये गये इस एक प्रतिकूल आचरणका भी नारदजीको सदा परिताप ही रहा और वे सदा जागरूक रहे, जिससे कि भविष्यमें उनसे कभी भी कोई भगवान्‌के मनके विपरीत पुनः ऐसा आचरण नहीं हो।

नारदजी सदैव अपनी ब्रह्मवाणीमें भगवान्‌का नाम एवं गुणगान करते हुए त्रिलोकीमें भ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार, महर्षि वेदव्यास, शुकदेवजी महाराज, महात्मा याज्ञवल्क्य, काकभुशुण्डिजी, भगवान् शेष, सूतजी, शौनकादि ऋषि, शाण्डिल्यजी, भक्त भीष्म, अर्जुन, परीक्षित्‌जी, राजा पृथु, जनमेजय, भगवती श्रीलक्ष्मीजी, अम्बरीषजी, कवि आदि नौ योगीश्वर, श्रीभरतजी, भक्तप्रह्लादजी, सनकादि, ध्रुवजी, श्रीहनुमान्‌जी, विदुरजी, उद्धवजी, राजा बलि, विभीषणजी, भक्तराज सुतीक्ष्ण, राजा शिवि, व्रजकी गोपीजन, गोप, कश्यप-अदिति, सुतपा पृश्नि, मनु-शतरूपा, दशरथ-कौशल्या, माता कैकेयीजी, गोपराज नन्द एवं मैया यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि अनेकों प्रमुख भक्त ऐसे हुए हैं, जो निरन्तर यावज्जीवन भगवान्‌के मनमें ही अपना मन मिलाये रहे।

सनत्कुमार नित्य निरन्तर **'हरिःशरणम्'** मंत्रका ही जाप करते रहते हैं।

इनके **'हरिः शरणम्'** मंत्रका अर्थ ही है कि भगवान्‌के मनमें अपना मन मिलाकर उनकी शरण रहो। श्रीवेदव्यासजीने अठारहों पुराणोंमें भक्तिको ही सर्वप्रधान भगवत्प्राप्तिका साधन माना है। वेदव्यासजीकृत भागवत-धर्ममें यही वर्णन किया गया है कि प्राणी भगवान्‌के मनमें ही अपना मन मिलाकर उनकी शरण रहे। वेदव्यासजी-कृत भागवत पुराण तो भक्तिकी खान है। श्रीशुकदेवजीने जबतक भगवान् श्रीकृष्णसे यह वरदान प्राप्त नहीं कर लिया कि उनपर भगवान्‌की माया असर नहीं करेगी, तबतक गर्भ-वासका त्याग ही नहीं किया। श्रीमद्भागवत-शास्त्रका सांगोपांग अध्ययनकर उन्होंने भक्तिकी नदी बहा दी। महर्षि शाण्डिल्यने ही तो भक्तिके सूत्र लिखे हैं। उन्हें सभी भक्तगण अपना आचार्य मानते हैं। महर्षि गर्गकी गर्गसंहिता तो भक्तिकी गंगा है। महर्षि कौडिन्यने तन्मयतासक्तिमें महासिद्धि प्राप्त की थी। भगवान् शेष तो दिन-रात अपने सहस्त्र मुखोंसे भगवान्‌का गुणगान गाते हैं। ये दास्यभावके प्रधान आचार्य हैं। दास्यभावका तो मूलमंत्र ही एक है कि भगवान्‌के मनमें मन मिलाये हुए उनकी दास-भावसे सेवा करो। राजा बलि तो सर्वात्म-निवेदनके आचार्य हैं। भगवान्‌के मनमें अपना मन मिलाना ही तो आत्म-निवेदन है। श्रीहनुमान्‌जीने अपना कलेजा फाड़कर वहाँ विराजित भगवान्‌के दर्शन सबको कराये थे, जिसका अर्थ ही था कि भगवान् ही उनका मन थे। विभीषणजीने तो अनन्त कालतककी लोक-निन्दा स्वीकार की और भगवान्‌के मनकी ही की।

वास्तवमें प्रेम ही चरम एवं पंचम पुरुषार्थ माना गया है और प्रेमका तो ककहरा ही यही है है कि भगवान्‌के मनका होकर ही जीव जीवनयापन करे। इस प्रेममें मोक्षका भी सन्यास हो जाता है।

अतः हमारा प्रमुख साधन यही हो कि हम उपरोक्त इन सभी भगवद्भक्तिके महान् आचार्योंके आदर्शोंका पालन करते हुए सदैव भगवान्‌के मनको ही अपना मन मानें और जो भी भगवान्‌के मनका विधान हमारे लिये भगवान् लागू करें, उसमें हमें हमारा भले ही सर्वनाश दिखायी पड़े, परन्तु हम उसे हमारे लिये पूर्ण मंगल-विधान मानकर उसे हँसते हुए स्वीकार कर लें ।

दूसरा साधन भगवान्‌ने भक्त अर्जुनको बताया, वह है 'मद्भक्त' अर्थात् 'हे अर्जुन ! तू मुझसे सदा अपनेको एक ही अनुभव कर। भगवान्‌से अपनी पृथक् एवं विलग सत्ता कदापि मत मान।

प्रायः सभी जीव मायामें फँसकर शरीर एवं शरीरियोंका अपनेको भाग (अंश) मानते हैं। पशु, पक्षी सभी जीवोंका यह परंपरागत स्वभाव है कि वे अपने शरीर अथवा शरीरियोंको ही अपना मानते हैं। हममेंसे अनेक अपनेको उदात्त

भावनावश विश्वका भाग मान लेते हैं, अनेक जातिका भाग मान लेते हैं, धर्मका भाग मान लेते हैं; अपनेको मानवमात्रका भाग मानकर मानवमात्रकी सेवाका व्रत ले लेते हैं, परन्तु बड़ी कठिनाई यही है कि हम अपनेको भगवान्का भाग, अंश, उनका भक्त कभी भी नहीं मानते।

इसीलिये भगवान् अर्जुनको अपनी प्राप्तिका सबसे सरल यही साधन बताते हैं कि तू अपनेको मेरा ही भाग मान, मेरा ही अंश समझ। यदि हम अपनेको विश्वका, राष्ट्रका हिस्सा मानेंगे, तो हमारी भक्ति विश्व एव राष्ट्रके प्रति होगी। अपनेको जब परिवारका भाग मानते हैं, तो परिवारकी सेवामें लगे रहते हैं। जब मनुष्य अपनेको माता-पिताका भाग मानता है, तो माता-पिताकी सेवामें लगा रहता है। वही मनुष्य, जब अपने माता-पितासे कटकर स्वयंको पत्नी-पुत्रका भाग मान लेता है, तो पुत्र-पुत्री, पत्नी एवं परिवारकी भक्तिकर उनसे बँध जाता है। उसकी सम्पूर्ण कर्म-शक्ति, उस अवस्थामें परिवारका बोझ ढोनेमें ही लग जाती है।

अतः भगवान् अपने प्रिय सखा एवं भक्त अर्जुनसे यही कहते हैं कि तू अपनेको मेरा भाग मान। ***'भागो भक्तिः'*** जब तू अपनेको मेरा भाग समझेगा, तो स्वाभाविक ही तेरी भक्ति मुझसे हो जायेगी। जबतक कन्या अपनेको माता-पिता, भाईके परिवारका हिस्सा समझती है, तो वह उनसे जुड़ी रहती है। जब विवाह हो जानेपर वही कन्या अपनेको अपने पति एवं पति-गृहका हिस्सा समझ लेती है, तो उस समय पतिका परिवार उसकी सेवाका केन्द्र हो जाता है और माता-पिताके परिवारको, जहाँ जन्म लेती है, वह भूल जाती है। अपनेको संसारका, परिवारका भाग समझ लेनेकी भूलसे ही हम भगवान्को भूले हुए हैं और संसारके प्रति अपना पूरा दायित्व, कर्तव्य समझ रहे हैं। जैसे ही हम अपनेको भगवान्का अंश, भाग मान लेंगे, हम संसारको सर्वथा भूल जायेंगे और भगवान्के ही हो जायेंगे। उस समय हमारी सम्पूर्ण कर्म-शक्ति भगवान्की सेवामें ही, उनकी भक्तिमें ही व्यय होगी।

भगवान् गीतामें अर्जुनसे कहते हैं :–

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।८।१४।।

अर्थात्, हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझे अपने-से-अपना मानता है, मुझे अन्य एवं पृथक् नहीं मानता एवं मुझसे अपने चित्तको जोड़े रखकर नित्य-निरन्तर सतत मेरा स्मरण करता है, मैं उसको परम सुलभ हूँ, क्योंकि वह मुझे अपनेसे पृथक अन्य नहीं माननेके कारण मुझसे नित्य-युक्त है और योगी है।

भगवान्‌से नित्य एकी-भावसे जुड़ा अनुभव करनेवाले भक्तको तर्क-वितर्कमें पड़नेकी कोई आवश्यकता ही नहीं। वह तो अपने जीवनका प्रत्येक क्षण अपने भगवान्‌में ऐसे मिला हुआ व्यतीत करता है जैसे नदी प्रतिक्षण समुद्रमें मिलती रहती है। भक्त अपने तनको भी भगवान्‌से ओत-प्रोत मानता है। भक्तका मन, बुद्धि, अहंकार – सब कुछ भगवान्‌में तन्मय रहते हैं। भगवद्भक्तकी भावना होती है कि धरादेवी तो भगवान्‌की प्रेयसी है, अतः मेरे तनका समग्र पृथ्वी-तत्त्व भगवान्‌की प्रिया है। मेरे प्राण तो पवनपुत्र होनेसे भगवान्‌के परमदास हैं, क्योंकि पवनपुत्र हनुमान्‌जी भगवान्‌के परमोच्च भक्त-सेवक हैं। मेरा धन तो भगवान्‌का ही है, क्योंकि लक्ष्मीजी सदा भगवान्‌के चरणोंकी सेविका ही हैं। मेरा मन भी भगवान्‌का पुत्र है, क्योंकि मनके अधिष्ठाता प्रद्युम्नजी (रतिपति कामदेवके अवतार) भगवान्‌के पुत्र हैं। चित्तके तो अधिष्ठाता ही स्वयं भगवान् वासुदेव हैं। इस प्रकार भक्त अन्तःकरण, बहिःकरण, सभी इन्द्रियों एवं मनमें भगवान्‌का नित्य अधिकार अनुभव करता रहता है।

भगवान् श्रीमद्भागवतमें कहते हैं :–

"विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ।।

अर्थात्, विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेसे वह मुझमें लीन हो जाता है।

भक्त तो अपनेको भगवान्‌का अंश (भाग) ही मानता है, अतः उसके लिये अपने भोगकी कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। उसका भोक्तापन तो भगवान्‌में मिल जाता है, क्योंकि भगवान्‌के अतिरिक्त उसके स्वतंत्र भोक्तापनकी कोई सत्ता ही नहीं रहती। भक्तकी नित्य-निरन्तर यही भावना होती है कि उसके प्राणाधार भगवान् ही सर्व-भोक्ता हैं, क्योंकि वे ही अंशी हैं और वह (भक्त) अपने समस्त अंगों और सामग्रियोंके सहित भगवान्‌का भोग्य है, क्योंकि वह अंश है। भक्तकी यही परम पूत दृष्टि होती है कि भगवान् ही एकमात्र पुरुष (अंशी), स्वामी हैं और शेष सब प्रकृति उनकी भोग्या अंश एवं दासी है। ऐसी अवस्थामें भक्त स्वयं भोग्य हो जाता है और उसका कोई परमात्मा के अतिरिक्त अन्य भोग्य विषय रह ही नहीं जाता। भक्त ठीक समझता है कि उसका मन यदि विषयभोगमें आसक्त होगा, तो वह अपने सर्वाधार, प्रियतम भगवान्‌की सेवा किस प्रकार करेगा ? अतः वह अपने चित्तको सब विषयों और उनकी आसक्तिसे खालीकर, भगवान्‌में डूबा रहता है।

मनका स्वभाव है, उसे हम जहाँ लगाना चाहेंगे, वहीं लग जायेगा। मन

लगता है, इन्द्रियोंके द्वारा ही। अतः भक्त आँखोंसे बार-बार भगवान्‌के सुन्दर-सुन्दर चित्रोंको ही देखता है, वह कानोंसे निरन्तर भगवान्‌के गुणगान ही सुनता है। वह भोजनके रूपमें, भगवान्‌को भोग लगाया, परम सात्त्विक प्रसाद ही ग्रहण करता है। वह अपनी घ्राणेन्द्रियसे भगवान्‌के अंगोंकी दिव्यगंध ही सूँघता है। वह भगवान्‌के चरणोंका ही सब रूपोंमें संस्पर्श करता है। वह बुद्धि एवं मनसे बार-बार भगवान्‌के ही स्वरूपका, तत्त्व-रहस्यका विचार एवं चिन्तन करता रहता है, जिससे उसकी आसक्ति भगवान्‌में ही हो। अतः भक्त भगवान्‌की सेवाकी अभिलाषामें भगवान्‌के प्रतिकूल सम्पूर्ण विषयोंका त्याग कर देता है। जहाँ विषयी लोग अपने मनको भगवान्‌से हटाकर भोगों एवं जगत्प्रपंचमें लगाते रहते हैं, वहीं भक्त जगत्‌के विषयी लोगोंकी प्रकृतिके सर्वथा विपरीत अपने मनको सब विषयोंसे हटाकर निरन्तर भगवान्‌से ही जोड़े रहता है। उसका सब समय भगवान्‌के ध्यान, चिन्तन, कीर्तन, भगवत्सेवा, साधु-सत्कार, सत्संग, आदि, जो भगवदनुकूल, विषय हैं, उनमें ही चाह करके व्यतीत होता है। जिन विषयोंके संग्रह और सेवनकी शरीर-यात्रा या कुटुम्ब-पोषणके लिये नितान्त आवश्यकता होती है, उनका भी वह शास्त्रानुकूल ईश्वरकी आज्ञा समझकर बहुत थोड़ी मात्रामें ही संग्रह और सेवन करता है। वह अन्य किसी भी फल एवं कामनाको मनमें स्थान नहीं देता एवं ईश्वर-प्रीत्यर्थ ही अपने जीवनका पल-पल व्यतीत करता है। भक्त विषयासक्ति एवं विषयानुरागके त्यागको अधिक महत्व देता है, क्योंकि विषयासक्ति नहीं रहनेपर यदि प्रारब्धवश भगवदिच्छासे विषय उसके पास आते भी हैं, तो वे विषय भी भगवत्सेवाके उपकरण बन जाते हैं। अतः भक्तका हृदय विषयानुरागसे सर्वथा रहित हुआ भगवत्प्रेमका दिव्य-धाम ही बन जाता है। भक्तसे विषयोंका त्याग स्वाभाविक ही होता है।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं :—

रमा विलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ।।

अमृतके स्वादको चख लेने और उसके गुणसे लाभ उठा लेनेपर, जैसे विषकी ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती, उसी प्रकार भक्तकी भी दृष्टि विषयोंकी ओर नहीं उठती। उसे तो भगवान्‌में आसक्त होनेमें ही परम सुख अनुभव होता है

भगवान् श्रीमद्भागवतमें कहते हैं :—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम् ।।

(श्रीमद्भागवत ११।१४।१२)

प्रिय उद्धव ! मुझमें चित्त लगानेवाले और समस्त विषयोंकी अपेक्षा छोड़नेवाले भक्तको आत्म-स्वरूप मुझमें जो परम सुख मिलता है, वह विषयासक्त-चित्त लोगोंको कहाँसे मिल सकता है ?

तीसरा साधन भगवान् अर्जुनको बतलाते हैं — **'मद्याजी'**, अर्थात्, जीवको भगवान्‌का ही यजन (भजन) करना चाहिये। 'यजन' का अर्थ है कि भक्त मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक भगवान्‌का पूजन करनेवाला हो।

भगवान्‌के इस प्रकारके पूजन एवं यजनको भक्त भगवान्‌के प्रति अपनी भक्तिका प्रधान अंग मानता है। यह यजन उसका साध्य एवं साधन दोनों ही होता है। भक्तसे अपने भगवान्‌का इस प्रकारका पूजन निरन्तर अखण्ड स्वाभाविक और श्रमरहित ही होता है। साधकको इस प्रकारके भजनका अभ्यास करना चाहिये। जो मनुष्य भजनके बिना मुक्ति अथवा भगवत्प्रेम चाहता है, वह भूलता है। श्री तुलसीदासजी महाराज कहते हैं :-

बारि मथैं घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल ।।

जलके मन्थनसे भले ही घी निकल आवे, बालूसे भले ही तेल निकले, परन्तु भगवान्‌के भजन बिना भवसागरसे मनुष्य नहीं तर सकता – यह सिद्धान्त अकाट्य है।

अतएव कल्याणकामी जीवके लिये भगवान्‌का इस प्रकारका पूजन-भजन अनिवार्य साधन है। विषयोंसे मन हटाकर यदि बार-बार भगवान्‌में नहीं लगाया गया, तो वह पुनः दौड़कर विषयोंमें चला जायेगा। विषय-त्याग वैराग्य है, तो भगवान्‌का श्रद्धासहित यजन अभ्यास है। अभ्यास एवं वैराग्यसे ही विशुद्ध भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

जो साधक घड़ीभर तो भजन करते हैं और शेष समय चित्तको भगवान्‌से हटाकर संसारमें लगाये रखते हैं, वे भक्तिका सुखद लाभ नहीं प्राप्त कर सकते। यह प्रेम एवं आदरयुक्त भगवान्‌का यजन नहीं है। यजन-रूप पूजा एवं भजन तो तभी सिद्ध होता है जब वह सदा होता रहे, सतत होता रहे और सत्कारपूर्वक हो। योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं :-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।

'दीर्घकालपर्यन्त, निरन्तर, सत्कारपूर्वक किया हुआ अभ्यास दृढ़ होता है। (और यही यजन कहलाता है) नित्य-निरन्तर एवं अखण्ड यजनसे भगवान्‌की प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

अतएव भगवान्‌का यह यजन अखण्ड-रूपसे करते हुए ही साधक स्नान, भोजन, व्यापार, कृषि, अध्यापन आदि सभी कार्य करे। इस भगवत्पूजनका ताँता क्षणभर भी नहीं टूटना चाहिये। भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन नहीं हो सके, तो निरन्तर भगवान्‌का नाम स्मरण करे। भगवान्‌के नाम-स्मरणसे मन और प्राण पवित्र हो जायेंगे, भगवान्‌के पावन पद-कमलोंमें अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जायेगा। नाम-जपकी सहज विधि यह है कि अपने श्वास-प्रश्वासके आने-जानेकी ओर ध्यान रखकर, श्वास-प्रश्वासके साथ ही मनसे, साथ ही धीमे स्वरसे वाणीसे भी भगवान्‌का नाम-जप करता रहे। यह साधन उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते, खड़े रहते, सब समय किया जा सकता है। अभ्यास दृढ़ हो जानेपर भगवान्‌के चिन्तनमें चित्त विक्षेप-शून्य होकर अपने आप लग जायेगा। प्रायः सभी प्रसिद्ध भक्तों और सन्तोंने इस साधनका प्रयोग किया है। महात्मा चरणदासजी कहते हैं :-

(१) ''श्वासा माही जपेतें दुविधा रहे न कोय।''
(२) ''स्वास स्वास सुमिरन करो, यह उपाय अतिनीक॥''

अर्थात्, भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, रहस्य, गुण, लीला, अथवा नामका चिन्तन निरन्तर तैल-धारावत् होना चाहिये। यही भगवान्‌के लिये किया जानेवाला अखण्ड भगवद्यज्ञ है।

साधकको मनसे तो नित्य निरन्तर-भगवान्‌का यजन करना ही चाहिये, परन्तु कान एवं वाणीसे भी सदा-सर्वदा भगवान्‌का ही गुण सुनना और कहना चाहिये। मनसे भगवान्‌का पूजन, भजन, चिन्तन तभी सफल होगा, जब हमारी इन्द्रियाँ भी भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगी रहेंगी। सभी कार्योंका प्रायः आधार होता है – सुनना अथवा बोलना। यदि कानोंमें सदा विषयोंकी ही चर्चा आती रहेगी और वाणीसे सदा विषयोंकी बातें ही की जावेंगी, तो मनसे भगवान्‌का चिन्तन होना असंभव-सा ही समझना चाहिये। यदि कान और जबान (वाणी) भगवान्‌में लगे रहेंगे – उन्हें दूसरे कार्यके लिये फुरसत ही नहीं मिलेगी – तो अन्यान्य इन्द्रियाँ और मन स्वतः ही भगवत्परायण हो जावेंगे। अतएवं कान एवं जीभको भगवान्‌के नाम-गुण लीलादिके सुनने एवं गानेमें ही निरन्तर लगाये रखना चाहिये। यही जीवन-यज्ञ है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है :-

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
(श्रीमद्भा.२।३।१९-२०॥)

जिसके कर्ण-पथमें भगवान्‌के नाम-गुणोंने कभी प्रवेश ही नहीं किया, वह मनुष्यरूपी पशु – कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गदहेकी अपेक्षा भी अधिक निन्दनीय है। हे सूतजी ! जो कान भगवान्‌की लीलाका श्रवण नहीं करते, वे सर्पादिके बिलके समान हैं और जो दुष्टा जिह्वा भगवान्‌की लीला-कथाका गान नहीं करती – वह मेंढककी जीभके समान व्यर्थ ही 'टें-टें' बकवास करने वाली है।"

किसी भी शास्त्रके अन्तमें उस ग्रन्थका सार और परम अनमोल सत्य बात ही रखी जाती है। श्रीमद्भागवत भक्तिकी सुरसरि है, उसके अन्तमें ग्रन्थका समापन करते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज सार-की-सार बात कहते हैं :–

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः
तदेव सत्यं तदुहैव मंगलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ।।४८।।
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ।।४९।।
(श्रीमद्भा. १२।१२।४८।४९)

अर्थात्, जिस वाणीसे अधोक्षज भगवान्‌की कथा नहीं कही जाती, विषयोंकी बुरी बातें कही जाती हैं, वह वाणी असत् और व्यर्थ है। जिन वचनोंमें भगवान्‌के गुणोंको प्रकट किया जाता है, पुण्यकीर्तिभगवान्‌का यश-वर्णन किया जाता है, वास्तवमें वे ही वचन सत्य हैं, वे ही कर्म मंगलरूप हैं, पुण्य हैं, वही वाणी मनोहर है, वही रुचिर है, वही नित्य-नव-नूतन-रसमय है। वे ही वचन सदा मनको महान् आनन्द देनेवाले हैं और साथही मनुष्योंके शोकरूपी समुद्रको सुखानेवाले हैं।

सम्पूर्ण भागवतशास्त्रमें इस प्रकारके भगवद्यज्ञ करनेके लिये अनेक उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। यहाँ कुछ परम अनमोल उक्तियाँ दी जा रही हैं :–

"ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः ।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ।। श्रीमद्भा.११।२६।२९।।)

अर्थात्, जो लोग मुझमें मन लगाकर श्रद्धा और आदरके साथ मेरी नाम-गुण-लीला-कथाको सुनते, गाते, और अनुमोदन करते हैं, उनकी मुझमें अनन्य भक्ति हो जाती है।

य एतद् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।
इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ।।
(श्रीमद्भा.११।३१।२७-२८)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – "हे राजन् ! जो मनुष्य देवदेव भगवान्‌के दिव्य

जन्म-कर्मोंका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है, वह समस्त पापोंसे छूट जाता है । भगवान् श्रीहरिकी अति मनोहर कल्याणकारी अवतार, पराक्रम तथा बाललीलाओंको सुनने तथा उनका गान करनेसे मनुष्य परमहंसोंकी गति – भगवान्‌में पराभक्तिको प्राप्त होता है।

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ।। (श्रीमद्भा.११।२६।३०)

भगवान् कहते हैं – इस प्रकार मुझ अनन्त-गुण-सम्पन्न, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें भक्ति हो जानेपर फिर उस साधु-पुरुषको और कौनसी वस्तु प्राप्त होनी शेष रह जाती है ? वह कृतार्थ हो जाता है।

भगवान्‌के इस प्रकार नित्य-निरन्तर यजन करनेका महान् फल होता है। भक्तके मुखसे उच्चारण किये हुए नामकी ध्वनि जहाँतक पहुँचती है, वहाँतकका वातावरण पवित्र हो जाता है। मृत्युकालके अन्तिम श्वासमें भगवान्‌का नाम किसी भी भावसे जिसके मुखसे निकल जाता है, उसको परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌के नामका जहाँ कीर्तन होता है, वहाँ यमदूत नहीं आ सकते।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है :–

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ।।
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ।। (६।२।१४,१८)

पुत्रादिके नाम-संकेतसे, परिहासमें, स्तोभ या अवहेलनासे भी भगवान्‌का नाम लेनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञानपूर्वक लिया हुआ पुण्यश्लोक भगवान्‌का नाम मनुष्यके पापको उसी प्रकार जला देता है, जैसे अग्निमें किसी प्रकारसे भी डाला हुआ ईंधन भस्म हो जाता है।

यह भगवान्‌का, नाम-यज्ञ द्वारा यजन है। यह यजन इतना श्रेष्ठ है कि देवी देवहूति भगवान् कपिलदेवसे कहती है :–

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।।
(श्रीमद्भा.३।३३।७)

अर्थात् 'अहो ! जिसकी जिह्वापर भगवान्‌का पवित्रनाम रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है, क्योंकि जो भगवान्‌के नामका कीर्त्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान, वेदाध्ययन सबकुछ कर लिया।

श्रीमद्भागवतके अन्तिम उपदेशमें श्रीशुकदेवजीका कथन है :–

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ।।
संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ।।

(श्रीमद्भा. १२।१२।४६-४७)

अर्थात्, कोई भी मनुष्य गिरते, पड़ते, छींकते अथवा दुःखसे पीड़ित होते समय परवश होकर भी यदि ऊँचे स्वरसे ***'हरये नमः'*** पुकार उठता है, तो वह सभी पापोंसे छूट जाता है। जैसे सूर्य पर्वतकी गुफाके अन्धकारका भी नाश कर देता है और जैसे प्रचण्ड वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न करके लुप्त कर देता है, इसी प्रकार अनन्त भगवान्का नाम-कीर्तन अथवा उनके प्रभावका श्रवण हृदयमें प्रवेश करके समस्त दुःखोंका अन्त कर देता है।

यह तो मात्र विवश होकर भगवान्के नाम-यज्ञ द्वारा यजनका फल है। प्रेमसे भगवान्के नाम-यज्ञ द्वारा यजनका फल तो कहना ही क्या ?

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते है :–

बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक रचित अघ दहहीं ।
सादर सुमिरन जे नर करहीं । भव बारिधि गोपद इव तरहीं ।।

अतएव भगवान् अर्जुनको अपनी प्राप्तिके लिये नाम-गुण-यश-कीर्तन-यज्ञ, प्रभाव-तत्त्व-विचार एवं चिन्तन-यज्ञके द्वारा अपना यजन करना, एक बहुमूल्य साधन बताते हैं।

उपरोक्त बहुमूल्य यज्ञके अतिरिक्त भगवान्की प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिका सुगम साधन, सत्संग-यज्ञ द्वारा भगवान्का यजन है। इस महत्कृपा (महापुरुषोंकी कृपारूप) यज्ञके प्रतापसे, पहले तीनों-नाम-गुण-यश-कीर्तन-यज्ञ, श्रवण-यज्ञ एवं प्रभाव-तत्त्व-विचार एवं चिन्तन-यज्ञ अपने आप ही हो जाते हैं।

इसको परिलक्षित करते हुए ही भगवान् तीसरा साधन बतलाते हैं :–

''मां नमस्कुरु''

महापुरुष तो कृपालु होते ही हैं, परन्तु श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनको जो प्रणाम करते हैं, उनके विषय-भोग स्वतः ही छूट जाते हैं। ये महापुरुष केवल शास्त्र ज्ञाता अथवा सदाचारी ही नहीं होते, ये भगवान्के स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपसे जानकर, उनमें अनन्य प्रेम करनेवाले महासिद्ध भक्त होते हैं। ये ऐसे भक्त होते हैं, जिनके लिये भगवान् अपने मुखसे कहते हैं – ***''अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः''*** अर्थात् इन भक्तोंके मैं पीछे-पीछे फिरता हूँ जिससे

इनके चरणोंकी धूलि मुझपर पड़ती रहे। ये महापुरुष सर्वैश्वर्य-निकेतन, मधुरतम लीला-विहारी भगवान्‌के नित्य-लीला-संगी होते हैं। इन्हें प्रणाम करनेसे ज्योंही इनके चरणोंकी धूलि साधक भक्तके मस्तकपर पड़ती है, भक्तको प्रेमरूपी भक्तिकी सहज ही प्राप्ति हो जाती है। मुक्ति तो इन भगवत्प्रेमियोंकी दृष्टिमें भगवद्भक्तिकी उत्पत्तिमें बाधा देनेवाली पिशाचिनी समझी जाती है। ऐसे प्रेमी-भक्तोंको प्रणाम करनेपर साधकको उनकी जो कृपा, अथवा संग प्राप्त होता है – वह कृपा, योग एवं ज्ञान आदिसे भी वशमें न होनेवाले भगवान्‌को सहज ही वशमें कर लेनेमें हेतु होती है।

ऐसे प्रेमी-संतोंको परम दीन होकर प्रणाम करनेसे भगवान् जैसे वशीभूत होते हैं, वैसे योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम एवं नियम किसी भी साधनसे वशीभूत नहीं होते।'

इसका कारण यह है कि अन्यान्य सभी साधन, सकामभावसे करनेपर भोग और स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं; ये ही साधन निष्काम भावसे किये जानेपर अन्तःकरणकी शुद्धि और मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले हैं। लीला-बिहारी भगवान्‌को सीधा वशमें करनेवाला तो सर्वतंत्र-स्वतंत्र, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम ही है, जो इन साधनोंमेंसे किसीके द्वारा भी प्राप्त नहीं होता। यह तो केवल भगवत्संगी प्रेमी महापुरुषोंकी महती कृपासे ही मिलता है। अतः ऐसे सन्तोंको मन, काया एवं वाणी द्वारा नित्य निरन्तर प्रणाम करें ।

संसारमें स्वधर्म-परायण, सदाचारी, साधु-स्वभाव, दैवी-सम्पत्तिवान् संतोंकी प्राप्ति तो फिर भी हो सकती है, किन्तु सच्चे हीरोंकी भाँति, उपदेशकोंकी जमातोंमें सच्चे प्रेमी साधु बहुत थोड़े ही होते हैं। खोज करनेपर संसारमें सदाचारी, कर्मकाण्डी और कुछ ज्ञानी पुरुष तो भले ही मिल जावें, परन्तु ऐसे सच्चे-प्रेमी-महात्मा बहुत ही कम मिलते हैं, जिनकी कृपामात्रसे परम दुर्लभ योगी-ज्ञानीजन-वांछित भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती हो। इसीलिये, ऐसे महात्माओंका मिलन बहुत ही दुर्लभ माना जाता है। यदि कहीं ऐसे महापुरुष मिल भी जाते हैं, तो उनका पहचानना बहुत ही कठिन होता है, क्योंकि बाह्य-आचरण तो नाटकके पात्र भी किसी अंशमें वैसा ही दिखला सकते हैं। आँखोंसे आँसुओंका बहना, रोना, हँसना और चिल्लाना ही प्रेमीके लक्षण नहीं हैं; अनेक बाह्य-कारणोंसे भी यह सब तो हो सकता है। फिर कोई-कोई सच्चे-प्रेमी ऐसे भी होते हैं, जो इन लक्षणोंवाली स्थितिसे भी आगे बढ़ गये हों और जिनके बाह्य-आचार साधारण समझके बाहर हों। सच्चे-प्रेमीजन तो किसीसे कहने जाते नहीं कि हमें प्रेमी मानो; और कहनेसे मानता भी कौन

है ? अतएव ऐसे निस्पृही भगवज्जनोंकी पहचान बहुत कठिन है।

अवश्य ही, ऐसे सन्तोंका मिलन हरि-कृपासे ही होता है। भगवान् जिसपर कृपा करके अपनाना चाहते हैं, उसीके पास स्वयंको प्रेमपाशमें बाँधे रखनेकी शक्तिवाले, अपने ही स्वरूपभूत प्रेमी भक्तको भेजते हैं। वस्तुतः भगवत्कृपा और महान् पुरुषोंका संग एक-दूसरेके आश्रित है। महत्पुरुषोंके संग बिना भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता, और भगवत्कृपा बिना ऐसे महापुरुष नहीं मिलते। श्रीविभीषणको हनुमान्‌जीके मिलनेपर ही भगवत्कृपाका अनुभव हुआ था। इसीसे उन्होंने कहा –

अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता । बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ।।

ऐसे महापुरुषोंका संग प्राप्त कर लेना हर एक जीवके वशकी बात नहीं है। अतः भगवान् अर्जुनको कहते हैं कि तू मुझको प्रत्येक प्राणी-पदार्थमें देखता हुआ प्रणाम कर। **''मां नमस्कुरु''** उपदेशमें इसी साधनका उल्लेख है। यदि कोई अति दीनतापूर्वक प्रत्येक प्राणी-पदार्थमें भगवान्‌का निवास जान एवं मानकर भगवान्‌के सभी रूपोंको प्रणाम करनेका साधन अपना लेता है, तो उसपर भगवान् निश्चय ही कृपा करते हैं। भगवत्कृपा साधकको पात्रता देती है। पात्रता प्राप्त होनेपर भगवान्‌के अत्युच्च निर्मल प्रेमकी एकान्त आकांक्षा साधकके मनमें उत्पन्न होती है। उस अवस्थामें साधकके हृदयका आर्त्तनाद अन्तर्यामी आनन्दमय प्रभु जब सुनते हैं, तब कृपा करके वे अपने किसी प्रेमी-भक्तको आदेश या संकेत करके उसके समागममें भेज देते हैं। वहाँ पहले उसके प्रेमकी परीक्षा होती है। यदि उसका प्रेम कामनाशून्य और अनन्य होता है और वह अपने आचरण और व्यवहारसे उस प्रेमी-भक्तके हृदयमें पात्रताका विश्वास पैदा कर देता है, तब वे सन्त उसका सन्देश भगवान्‌के पास पहुँचाते हैं और भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त करके क्रमशः प्रेमका रहस्य उसके सामने खोलते हैं। धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों उसकी पात्रता बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌की आज्ञासे वे सन्त उसे भगवान्‌के प्रेमराज्यमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ाकर ले जाते हैं। अन्तमें उस साधकपर भगवान्‌की पूर्ण कृपा होनेसे वह भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लेता है।

अतएव भगवान् अर्जुनके सम्मुख स्पष्ट खोलकर प्रतिज्ञा-भावसे इन साधनोंका फल भी बतला देते हैं, वे कहते हैं :–

''मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे''

अर्थात्, हे अर्जुन तू मेरा परम प्रिय है, अतः तुझसे मैं यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि इन उपरोक्त चार साधनोंको भली प्रकारसे आचरित करनेपर, तू

निश्चय ही मुझे प्राप्त हो जायेगा।

बात यह है कि भगवान्‌की कृपाके अवतरणमें अभिमान सबसे बड़ा बाधक है। पहले भगवान्‌ने जो तीन साधन बताये हैं – ***१. मन्मना भव, २. मद्भक्तः ३. मद्याजी*** – इन तीनों साधनोंको करनेसे साधक समझने लगता है 'मैं भक्त हूँ'। यह अभिमान सर्वथा पतनका हेतु है। भक्तका साधन भगवत्कृपासे ही सम्पन्न होता है। भगवत्कृपा ही उसकी कुछ भी उन्नतिमें हेतु होती है। अभिमानके आते ही भगवत्कृपाके द्वार रुद्ध हो जाते हैं। अतएव अभिमानका सर्वथा त्याग परमावश्यक है। यहाँ तक कि निरभिमानताके अभिमानको भी त्याग देना आवश्यक है। अभिमान-त्यागका सर्वोत्तम उपाय दीनता, विनय और नम्रता है। इसीलिये, यहाँ भगवान्, ***'नमन-यज्ञ'*** द्वारा अपने पूजन-यजनकी बात कह रहे हैं।

'मां नमस्कुरु' अभिमान-नाशका सर्वोत्तम साधन है। साधक चाण्डाल, शूकर, गर्दभादिमें भी जब भगवान्‌का नित्यधाम देखकर उन्हें प्रणाम करता है, तो उसका अभिमान गल जाता है। भगवान् जड़-चेतन, सब प्राणी-पदार्थमें लबालब भरे हैं, भक्त जब यह देख-देखकर निरभिमानी एवं दीन होता है, तभी उसको ठीक अनुभव होता है कि यदि यत्किंचित् भी वह साधन-पथमें बढ़ पाया है, तो उसकी हेतु मात्र भगवत्कृपा ही है। तब उसके चित्तसे जगत्‌के संस्कार मिटने लगते हैं। फिर भक्त-साधक लज्जा, घृणा, कुल, जाति, शील, मान, देह, गेह, भोग, एवं मोक्ष – सबकी सुधि भूलकर केवल भगवान्‌को ही अपना एकान्तिक-प्रेमी मानकर उनपर न्यौछावर हो जाता है। फिर वह ऐसे कृपालु भगवान्‌के दर्शनकी कामनाके वेगसे पीड़ित होकर रो-रोकर पुकार उठता है :–

हे देव, हे दयित, हे भुवनैकबन्धो,
हे कृष्ण, हे चपल, हे करुणैक सिन्धो ।
हे नाथ, हे रमण, हे नयनाभिराम
हा हा कदानु भवितासि पदंदृशोर्मे ।।

(कृष्णकर्णामृतम्)

इस प्रकार, वह साधक फिर अपने सब ओर भगवान्‌को भरा हुआ देखता है। उसे आकाश भगवान्‌की छबिसे भरा दृष्टिगोचर होता है, उसे कहीं भी यदि सौन्दर्य-माधुर्य, रमणीयता, दिखती है, तो उसे भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यका अंश ही सर्वत्र फैला हुआ दृष्टिगोचर होता है। बस, तब भक्तका एक ही साधन होता है, अपनेको सर्वथा दीन मानकर सब भगवन्मूर्तियोंको प्रणाम करना और भगवान्‌के लिये सदा रोया करना, उन्हें पुकारना और उनके चरणोंमें लोट-लोटकर

उनसे उनकी हेतुरहित कृपाकी याचना करना ।

बस, भगवान् उस साधककी पुकारपर अपनी आँख मिचौनीकी लीला-छोड़कर प्रकट हो जाते हैं। जब भक्तकी पुकार सुनकर त्रिभुवन-कमनीय, योगीजन-दुर्लभ, देव-देव-प्रत्याशित, ऋषि-महर्षि-महापुरुष-चित्ताकर्ष, निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृत-सारभू, आनन्दकन्द, मदनमोहन, मन्मथ-मन्मथरूपमें मुसकाते हुए और मुरलीमें अपना दिव्य-मोहन सुर भरते हुए सहसा प्रकट होकर अपनी प्रेमानन्द-रसमाधुरी चारों ओर बिखेर देते हैं, तब उस दिव्य-भावापन्न भक्त-साधककी क्या दशा होती है, इसका वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है।

उस समय भक्तका अपना सब कुछ भगवान्के चरणोंमें स्वयमेव न्योछावर हो जाता है। वह भगवान्के चरणोंकी परमानन्दरूपा प्रेमाभक्तिको पाकर धन्य हो जाता है। मोक्ष-साम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है। भगवान्के कर-सरोज ऐसे भक्तको अभय देकर उसकी सब प्रेमाभिलाषा पूर्ण कर देते हैं। वह भगवान्का नित्य-सिद्ध-कैंकर्य प्राप्त कर लेता है।

भैया ! मैं आपको क्या कहूँ ? मैं तो परम दीन-हीन, भाईजी (श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार) जैसे भगवद्भक्तकी शरणमें पड़ा हूँ। वे कृपालु महापुरुष मुझपर कभी-न-कभी अवश्य ही कृपा करेंगे – यही आशा लिये हूँ। परन्तु सत्य सार-की-सार बात यही है कि भगवान्में अनन्य प्रेम ही वास्तवमें अमृत है; वही सबसे अधिक मधुर है। मानव-जीवन इस मधुर भगवत्प्रेमामृत पान करनेके लिये ही मिला है।

भैया ! घर-परिवार, खेत-खलिहानकी लौकिक वासनाएँ ही विष हैं। मैं तो आपसे बार-बार यही दीन प्रार्थना करता हूँ कि भगवत्प्रेमकी एक पवित्र वासनाके अतिरिक्त अन्य किसी वासनाको अपने भीतर मत रहने दीजिये।

आपने जो कुछ भी पूछा, वह पूज्य भाईजीके द्वारा बताया साधन आपको लिख दिया है।

आपका
चक्रधर

महाभाव-दिनमणि

श्रीराधाबाबा

(द्वितीय खण्ड)

(वार्तायें, प्रवचन-उपदेश, पत्राचार एवं लेख)

अध्याय चौथा

(श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाके पत्र)

विषय सूची

१. नाम-संकीर्त्तनका तात्त्विक-विवेचन
२. कर्त्ता कौन है ?
३. समाधि-अवस्थामें क्या सच्चे भगवद्दर्शन होते हैं ?
४. महाजनो येन गतः स पन्थाः
५. भगवान् ही पूर्ण योगी हैं
६. महाशक्ति निष्क्रिय होनेसे ब्रह्ममें एक है,
किन्तु भगवान्में वह उनसे पृथक् उनकी दासी है
७. विभूतियोंके दर्शनसे विश्वास पुष्ट होता है
८. लीलाका प्रकाश चिदाकाशमें ही संभव है, चित्ताकाशमें नहीं
९. वृन्दावन मायातीत भूमि है मानस-भूमि नहीं
१०. सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी परमार्थ स्थिति
११. ब्रह्म कर्म, निष्काम कर्म तथा ज्ञानोत्तर प्रीति

सार संग्रह

इसीसे मैं तो किसीके भी मनको शुद्ध विद्या-भाव-भावित अर्थात् अन्तर्मुखी करनेका एक ही साधन संकेतित करता हूँ कि वह नाम-जप साधना करे। नाम-श्रवणके साथ यदि यह नाम जप होने लग जाय तो मनकी वृत्ति शीघ्रातिशीघ्र अन्तर्मुखी हो उठती है। भगवन्नाम, चिज्ज्योति और भगवद्रूपका अभ्युदय क्रमशः यही साधनकी उन्नतिका स्वरूप है, अथवा यों कहें कि यही सम्यक् पथ है। इस नाम-साधनाके अखण्ड अभ्यासके प्रभावसे ऐसी अवस्थाका स्वभावतः ही उदय हो जाता है एवं तब यही धारणा दृढ़ हो जाती है कि यह नाम-मात्र मेरे हृदयसे ही स्फुटित नहीं हो रहा, अपितु हृदयसे लेकर समस्त जगत्, क्षुद्रतासे लेकर बृहत्तम सत्ता पर्यन्त, प्रत्येक वस्तुमें समरूपेण व्याप्त है। इसके पश्चात् अन्तःस्थित चिज्ज्योतिका स्वभावतः जागरण होता है। तब ठीक प्रत्यक्षवत् दर्शन होने लगता है कि सर्वव्यापक इष्टरूप ज्योतिमें जगत्की सभी जागतीय वस्तुएँ विद्यमान हैं। तभी ठीक-ठीक गीताके इस श्लोकका वास्तविक अर्थ चित्तमें अवधारित होता है -

''मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय''

अर्थात्, ''हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त इस विश्वमें कहीं कुछ भी नहीं है।'' अभी हम मात्र भगवान्के वक्तव्य सुनते हैं, पढ़ते हैं, परन्तु इस तत्वका प्रत्यक्षानुभव नहीं कर पा रहे।

x x x x x x

भावदेहके अनन्तर सिद्ध देह प्रसिद्ध है। भावदेह साधक अवस्थामें अभिव्यक्त होती है। यह भावदेह भी नाम-माहात्म्यके प्रभावसे शीघ्र सुलभ होती है, ऐसा मेरा व्यक्तिगत अनुभव है।

x x x x x x

ऐसे कृपा-पात्र जीव माताकी कोखमें गर्भवासके समय भी वैकुण्ठवत् आनन्दमें रहते हैं। उन्हें सर्वसाधारण जीवोंकी तरह जन्म, मृत्यु, जरा एवं व्याधिका अनुभव नहीं होता है। वे तो भगवान् नारायणके दिव्य चिन्मय सामीप्यका लाभ निरन्तर पाते हैं और शरीरके घोर रोगग्रस्त होनेपर भी उसकी पीड़ाका अनुभव सर्वथा नहीं करते। यह विलक्षण जीवन्मुक्तिकी अवस्था है।

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या - १९

नाम-संकीर्त्तनका तात्त्विक-विवेचन

पत्र-प्रेषक :

स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

पत्र-प्रेषिति :

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

पत्र-प्रेषण स्थल :
गीतावाटिका, गोरखपुर ।
दिनांक :
तिथि अज्ञात, सं. २००३

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह
(श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला द्वारा
बाँकुड़ासे प्रतिलिपि किया गया पत्र)

आलोक

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाके पिताका नाम श्रीखूबचन्दजी गोयन्दका था। सेठजी श्रीहरिकृष्णदासजी, जयदयालजीके छोटे भाई थे। श्रीसेठजीके अनेकों दैवीगुणोंकी छाप इनके जीवनमें स्पष्टतः प्रतिबिम्बित थी। संस्कृत साहित्य एवं दर्शनमें इन्हें विशेष वैदुष्य प्राप्त था। पातंजल योगसूत्र और बादरायणके ब्रह्मसूत्रपर आपके द्वारा लिखी टीका जिज्ञासु पाठकोंको सहज ही आकर्षित कर लेती है। दर्शनके कठिन से कठिन स्थलोंको सहज भाषामें व्यक्त कर देना आपकी निजी विशेषता है। उपनिषद्-साहित्यका गंभीर आलोड़न करनेके पश्चात् नौ उपनिषदोंपर आपके द्वारा लिखी हिन्दी टीका, गीताके शांकर और रामानुजभाष्यका गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवाद– सभी आध्यात्मिक जीवनकी अमूल्य निधियाँ हैं।

इनके जीवनमें ज्ञान एवं भक्तिका समन्वय विलक्षण रूपमें दर्शनीय था। एक दार्शनिककी तीक्ष्ण बुद्धि रखनेपर भी आपका हृदय भक्तिसे परिपूरित था। भक्तोंकी गाथा सुननेपर आपको प्रायः साश्रुनेत्र देखा जाता था। निरन्तर साधना एवं मनन करते-करते आपकी आध्यात्मिक स्थिति उच्च हो गयी थी। आप आजीवन गीताप्रेसके ट्रस्टी रहे। बाँकुड़ामें १४ फरवरी सन् १९७३ ई. को ८१ वर्षकी अवस्थामें आपका भगवद्धाम पदार्पण हुआ।

प्रिय श्रीहरिकृष्णदासजी !

सस्नेह यथायोग्य। आपका पत्र यथासमय प्राप्त हो गया था। मैं एक मासमें मात्र एक दिवस ही पत्रोत्तर दिया करता हूँ। पिछले मास पूर्णिमामें श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) के साथ यात्रामें था, अतः वहाँ पत्र लिखने वालेकी सुविधा नहीं होनेसे पत्राचार नहीं कर सका। पट्टीपर पत्र लिखकर रख देता हूँ, कोई सुविधानुसार उसे लिपिबद्ध करता है, तभी पत्र प्रेषित हो पाता है। अतः विलम्बके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। इस प्रकारके विलम्ब होनेकी भविष्यमें भी पूरी संभावनाएँ हैं। आपका पत्र गूढ़ साधन-सम्बन्धी है, अतः खूब समझकर ही उत्तर दिया है। आपको उचित एवं रुचिकर लगे तो ध्यान दीजियेगा, अन्यथा फाड़कर रद्दीकी टोकरीमें डाल दीजियेगा।

मेरी समझमें जबतक जीव पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो जाता, तबतक सम्पूर्ण साधनाओंका यंत्र मन ही रहता है। मनके द्वारा ही भक्ति, ज्ञान, अथवा कर्मयोग– सभीकी साधना संभव है। मेरी समझमें साधकको प्रारंभमें मनको निरुद्ध करनेकी चेष्टा कदापि नहीं करनी चाहिये। अनेक अधकचरे लोग प्राणायामके द्वारा प्रारंभमें ही कृत्रिम उपायसे मनको निरुद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु मेरी दृष्टिसे ऐसे सभी साधकोंको हानि ही हुई है। मुझे एक योगी मिले थे, वे अपनेको योगाचार्य कहते थे और वे अपने शिष्योंको यही उपदेश देते थे, "मनको मार, बेड़ा पार" परन्तु उनकी विक्षिप्त दशा हो गयी थी। अतएव कृत्रिम उपायोंसे मनको निरुद्ध करना सर्वथा अनुचित है। मनको निरुद्ध करनेकी चेष्टा न कर, उसे शुद्ध करनेपर ही यह समझमें आता है कि साधकके आध्यात्म जीवनमें मनका कितना महत्वपूर्ण उपयोग है। बिना वशीभूत किया, चंचल, मलिन मन साधकका रिपु है और निजवशमें किया हुआ निर्मल मन ही उसका परम मित्र है। श्रीमद्भागवतमें भिक्षुगीतमें भगवान् भिक्षुके माध्यमसे यही कहलाते हैं –

"नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्नदेवतात्माग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्त्तयेद् यत् ।।

(श्रीमद्भा. ११।२३।४३)

अर्थात्, मेरे सुख अथवा दुःखका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है, और न ही ग्रह, कर्म अथवा काल आदि ही हैं। (श्रुतियाँ एवं महात्माजन) मनको ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सम्पूर्ण संसार-चक्रको चला रहा है ।

मन सर्वदा ही चंचल है, सर्वदा ही अस्थिर है, और सर्वदा ही भ्रमणशील

है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि मनमें सभी समय एक अभाव जग रहा है। उसकी तृष्णा एवं अतृप्ति अनन्त है। वही उसको शान्त नहीं रहने देती। मनकी माँग है, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द। यही मनका भोजन है। इसको न पाकर मन हाहाकार कर रहा है। उसका अभाव ही उसका चांचल्य है। मन की क्षुधा, भूख, तृष्णा निवृत्त होते ही उसकी चंचलता सदा-सदाके लिये निवृत्त हो जाती है।

मेरी दृष्टिमें मन चाहता है — श्रीकृष्णको । कोई उन्हें परमात्मा, ब्रह्म, राम, भगवान्, नारायण, शिव, शक्ति कुछ भी कह ले — मन इन्हें ही चाहता है। श्रीकृष्ण ही मनके सखा हैं, प्रभु हैं, उसके प्रियतम हैं, पति हैं, सर्वस्व हैं। उनसे भटककर ही मन उनकी प्राप्तिके लिये ज्ञात या अज्ञातरूपमें विरहाग्निमें दग्ध हो रहा है। मन सर्वत्र एकमात्र उन्हींका अन्वेषण कर रहा है। जागतिक वस्तुएँ जो भी उसके सम्मुख आती हैं, वह उन सभीमें श्रीकृष्णको खोजनेका प्रयत्न करता है परन्तु जब उन सभीको क्षणभंगुर, असत्, अभावभरी, अपूर्ण, अतृप्ति बढ़ानेवाली एवं दुःखरूप देखता है, तो अतृप्त होकर भागता है। यह सत्य है कि मन श्रीकृष्ण ही है। भगवान् स्वयं अपने मुखसे गीतोपनिषद्में कहते हैं कि **''इन्द्रियाणां मनश्चास्मि''** अर्थात्, इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ, फिर भी मन इसे भूला हुआ है। वह बहिर्मुख है और श्रीकृष्णकी ओरसे विमुख है।

अतः हरिकृष्णदासजी ! साधनाका मुख्य उद्देश्य ही है मनको अन्तर्मुख करना। अनादिकालसे विश्वमें दो प्रकारकी शक्ति प्रवाहित हो रही है। जिस बहिर्मुखी शक्तिप्रवाहमें पतित होकर मन बाहरकी ओर गतिशील है, वह है अविद्याशक्ति और जिस अन्तर्मुखी शक्तिके प्रवाहमें मन पतित होकर अन्तर्मुखी होता है, वह है विद्याशक्ति। दोनों मूलमें एक ही हैं। इस विद्याशक्तिको ही ज्ञानी विचार, विवेक कहते हैं, तांत्रिक 'शब्द शक्ति' कहता है। भक्त 'नाम' कहता है।

विज्ञानकी भाषामें विशुद्ध व्योम तत्त्वमें विचार अथवा संकल्प स्वभावतः ही होता है। मायाके स्पर्शसे व्योमके कलंकित होनेके कारण उसमें क्षोभवश वायुकी उत्पत्ति होती है। वायुकी वक्र और कुटिल गतिसे सरल निनाद खण्ड-खण्ड होकर विभिन्न वर्णरूपोंमें अभिव्यक्त होता है। वह वर्णमाला, चाहे वह किसी भी देशकी भाषामें व्यवहृत हो रही हो, सब वायुका ही खेल है। इसीसे विशुद्ध चैतन्य-प्रवाहमें विभिन्न वृत्तियोंका उद्गम होता है। वह सब मनको आबद्ध एवं विक्षिप्त करता है। इन वृत्तियोंकी चंचलतासे ही मन आत्मविस्मृत होकर असंख्य विक्षेपोंकी क्रीड़ा-पुत्तलिकाके रूपमें परिणत हो जाता है। उसका आत्मवश-भाव अथवा भगवद्दासभाव छूट जाता है। इसकी निवृत्तिका मुझे तो एक ही उपाय

समझमें आता है कि उसे ज्ञानियोंकी भाषामें शुद्ध चैतन्य प्रवाहमें डाला जाय, और मेरी भाषामें श्रीकृष्ण नाम संकीर्त्तन प्रवाहमें डाला जाय, अथवा सेठजी श्रीजयदयालजी महाप्रभुकी भाषामें सत्संग-प्रवाहमें डाला जाय, तभी उसमें श्रीकृष्ण-स्मृति अथवा आत्म-स्मृति जागती है। अर्थात् वह घोर मायाजन्वित मूढ़तासे जाग सकता है। तंत्रकी भाषामें शुद्धनाद, मेरी भाषामें श्रीकृष्णनामामृत की धारा ही निर्मल चैतन्यका देहाश्रित प्रकाश है। विशुद्ध व्योममें यह भगवन्नामामृत निरन्तर हो रहा है। इसी कारण मनको नाम-जपका ही अनुवर्त्तन करना चाहिये। एकबार मात्र ही सही शुद्धनादका आश्रय मिला नहीं, अथवा श्रीकृष्णनाम संकीर्त्तनका रस चखा नहीं और उसको निरन्तर धारण कर सकनेकी योग्यता प्राप्त हुई नहीं कि मनकी यह आपाततः विकलता मिट जाती है। वह विकल्प-शून्य होकर चेतन 'कृष्ण-नाम'की धारामें बहने लगता है। वह फिर वृत्तियोंके विकल्प-जालमें नहीं फँसता।

इसीसे मैं तो किसीके भी मनको शुद्ध विद्या-भाव-भावित अर्थात् अन्तर्मुखी करनेका एक ही साधन संकेतित करता हूँ कि वह नाम-जप साधना करे। नाम-श्रवणके साथ यदि यह नाम जप होने लग जाय तो मनकी वृत्ति शीघ्रातिशीघ्र अन्तर्मुखी हो उठती है। भगवन्नाम, चिज्ज्योति और भगवद्रूपका अभ्युदय क्रमशः यही साधनकी उन्नतिका स्वरूप है, अथवा यों कहें कि यही सम्यक् पथ है। इस नाम-साधनाके अखण्ड अभ्यासके प्रभावसे ऐसी अवस्थाका स्वभावतः ही उदय हो जाता है एवं तब यही धारणा दृढ़ हो जाती है कि यह नाममात्र मेरे हृदयसे ही स्फुटित नहीं हो रहा, अपितु हृदयसे लेकर समस्त जगत्, क्षुद्रतासे लेकर बृहत्तम सत्ता पर्यन्त, प्रत्येक वस्तुमें वह नाम समरूपेण व्याप्त है। इसके पश्चात् अन्तःस्थित चिज्ज्योतिका स्वभावतः जागरण होता है। तब ठीक प्रत्यक्षवत् दर्शन होने लगता है कि सर्वव्यापक इष्टरूप ज्योतिमें जगत्की सभी जागतीय वस्तुएँ विद्यमान हैं। तभी ठीक-ठीक गीताके इस श्लोकका वास्तविक अर्थ चित्तमें अवधारित होता है —

"मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय"

अर्थात्, "हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त इस विश्वमें कहीं कुछ भी नहीं है।" अभी हम मात्र भगवान्‌के वक्तव्य को सुनते हैं, पढ़ते हैं, परन्तु इस तत्वका प्रत्यक्षानुभव नहीं कर पा रहे।

शब्द और रूप भगवान् श्रीकृष्णके अथवा ब्रह्मके ही विविध स्वरूप हैं। नाम-साधनके द्वारा यह ठीक अभिव्यक्ति हो जाती है कि भगवान् एवं भगवान्‌का नाम भगवान्‌की शक्ति एवं भगवान्‌का रूप-आकार, सबकुछ एक ही है। भगवान्‌का

रूप निजबोधरूप चैतन्य ही है। इस निजबोधरूप चैतन्यमें ही मन अपनी कल्पनाके अनुसार रूपका गठन कर लेता है। निजबोधरूप ज्योतिसे ही दिव्य चिन्मयरूपका प्राकट्य होता है।

मेरी तो इतनी ही समझ है कि नाम-स्मरण अथवा संकीर्त्तनसे भगवान्के अनुग्रहसे धीरे-धीरे सत्यका पूर्ण अनुभव-द्वार खुल ही जाता है। और क्या कहूँ। सबको सप्रेम यथायोग्य।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे।।

पत्र संख्या : २०

कर्त्ता कौन है ?

पत्र-प्रेषक :

स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प. पू. राधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

स्थान :
गीतावाटिका, गोरखपुर
दिनांक :
७ मार्च सन् १९४७ ई.

प्राप्ति सूत्र :
श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला द्वारा
बाँकुड़ामें प्रतिलिपि किया पत्र
श्रीशिवकिशनजी डागाके पत्र-संग्रहसे

प्रिय श्रीहरिकृष्णदासजी

सप्रेम यथायोग्य। आपको पत्रोत्तर बहुत कालके पश्चात् दे रहा हूँ। इधर पत्र-व्यवहार करनेवालोंकी संख्या बढ़ती जा रही है। जो लोग पाप-पंकमें फँसे हैं और परितप्त हैं, उनको शीघ्र उत्तर देनेकी प्रवृत्ति रहती है, अतः उन्हें प्राथमिकता देता हूँ। आपका पत्र तो मात्र सत्संग-चर्चा ही है, अतः आगे-पीछे भी उत्तर जायेगा, तब भी कोई बात नहीं, ऐसा मानकर उसे प्राथमिकता नहीं दी थी। दूसरे, आपके पत्रोंमें पूर्ण तात्विक बातें होती हैं, अतः उसकी प्रतिलिपि गोस्वामीजी (श्रीचिम्मनलालजी) ही करते हैं, वे कार्यमें सदैव व्यस्त रहते हैं। यद्यपि मेरा सन्देश मिलनेसे तो वे तुरन्त ही सब काम छोड़कर आ जाते हैं, किन्तु मुझे ही संकोच रहता है कि कहीं भाईजीका कोई परमावश्यक कार्य उनके जिम्मे नहीं हो। इन सभी कारणोंसे आपका पत्र बहुत दिनोंसे अनुत्तरित रह गया। मासमें मात्र एक दिन ही पूर्णिमाके दिन पत्र-लेखन करता हूँ। आपका पत्र लिखकर रखवा दिया था, और गोस्वामीजीके पास पट्टियाँ भी भेज दी थीं कि वे प्रतिलिपि करके पोस्ट कर दें। पूर्णिमाके दिन, मात्र जो नियत दैनिक-कार्य तथा उपासनाके घण्टे हैं, उन्हें छोड़कर दिन-रात आठों प्रहर पत्र-लेखन करनेपर भी पूरे पत्र उत्तर नहीं दे पाया हूँ। अब जो छूट गये, वे तो अगले मास ही उत्तरित हो सकेंगे। सब परिस्थिति इसलिये खोलकर लिखी है

कि विलम्बसे यदि पत्रोत्तर जाय, तो आप विचार नहीं करेंगे।

आपका जो प्रश्न है कि कर्त्ता कौन है, इसके उत्तरमें मेरा इतना ही निवेदन है – जीव कर्त्ता है अथवा ईश्वर कर्त्ता है, ये दोनों ही उत्तर पूर्ण सत्य नहीं हैं, एकांशमें ही सत्य हैं।

जबतक अंहकार और कर्तृत्वाभिमान है तबतक तो जीव ही कर्त्ता है, यही बात स्वीकारनी होगी। देहात्मबोध रहनेतक जीव अपनेको ही कर्त्ता मानता है और कर्मोंके सुख-दुःखरूप फलोंका भोक्ता भी रहता है। इसलिए जीव बद्ध है। यही संसारावस्था है। साधारण जीव इसी नियमानुसार जन्म-मृत्युके प्रवाहमें बह रहा है।

जब सम्यक्‌रूपमें अहंकारकी निवृत्ति हो जाती है, और किसी कर्मका कर्त्तृत्वाभिमान अपनेमें नहीं रहता तब कर्मके लिये जीव उत्तरदायी नहीं रहता। यह अवस्था ज्ञानोदयके समकक्षमें होती है। इस अवस्थामें अपना कर्तृत्व भी नहीं रहता। इसीलिये जीव कर्मफलका भोक्ता भी नहीं होता। उस समय यह समझ होती है कि सब प्रकारके कर्म मात्र प्रकृतिके गुणोंसे ही हो रहे हैं। अतः प्रकृति जिसके अधिष्ठानसे कार्य कर रही है वह परमात्मा कर्त्ता है। इस दृष्टिके कारण जीव कर्मफल भी ईश्वरको ही समर्पित करता है।

परन्तु इन दोनों स्थितियोंसे परे एक और दृष्टि है। उस दृष्टिमें त्रिगुणके संचालक भगवान् जगन्नियन्ता कर्म कराते हैं और जीव यंत्रवत् सब कर्म करता है। यह ज्ञान-भक्ति – मिश्रित दृष्टि है। इसमें परमात्मा प्रयोजक है और जीव प्रयुज्य है। इसमें जीव अहमर्थ कुछ भी नहीं करता, उसके सभी कर्म भगवदर्थ ही होते हैं। यहाँ जीव पूर्णतया समर्पित है। जीव नाचता है, परन्तु काम, क्रोधका चोला पहनकर नहीं नाचता, वह परमात्माके लिये नाचता है। इसमें जीवकी प्रकृति त्रिगुणात्मक नहीं रहती, वह शुद्ध प्रकृतिका आश्रयी होता है। शुद्ध प्रकृतिसे संसार तब एक विचित्र अभिनव रूपमें भगवन्मय प्रतीत होता है। सुख-दुखका अनुभव तब भी होता है, परन्तु उस अवस्थामें सुख-दुःख दोनों ही भगवान्‌के सुखके लिए ही होनेसे एक विलक्षण रसास्वादनमें हेतु हो जाते हैं। इस भवनाट्यशालाके सूत्रधार वे हैं, नाटकका पात्र जीव होता है।

श्रीतुलसीदासजी एवं अनेक वैष्णव भक्तोंकी ऐसी ही अनुभूतियाँ सर्वत्र देखनेको मिल जावेंगी।

(१) उमा ! दारुयोषित की नाईं । सवहिं नचावत रामु गुसाईं ।।
(२) करी गोपालकी सब होय। जो मानै पुरुषारथ अपनौ अति झूठौ है सोय ।।

(२९४)

कर्त्ता कौन है ?

गोरखपुर,

पत्र-प्रेषिति - श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

७ मार्च १९४७ ई.

ज्ञानोत्तर भक्तिरसवेत्ता रसिकजन देहमें अवस्थान करते हुए भी इस रसमें डूबे रहते हैं। इस अवस्थामें साधक एवं सिद्ध दोनोंके यथार्थ मलिन देहोंके अन्तरालसे विशुद्ध सत्त्वमय निर्मल देहका प्रकाश होता है। श्रीसेठजी जयदयालजी एवं श्रीभाईजीमें इसी भावकी प्रधानता है कि वे पूर्ण परमात्माके नियंत्रणमें यंत्रवत् उनका कार्य सम्पादित कर रहे हैं। परमात्मा यन्त्री है और वे मात्र यन्त्र हैं।

इसके पश्चात एक और भी स्थिति है। एक दिन श्रीभाईजी अपने आप ही मुझसे बोले – "स्वामीजी ! आप समझते हैं कि मैं इन सभी कर्मोंको कर रहा हूँ, मैं कोई भी अच्छा-बुरा कर्म नहीं करता, क्योंकि मैं इस मलिन देहमें हूँ ही नहीं। तब क्या मेरी प्रकृति इन कर्मोंको कर रही है ? वह भी ये सब कर्म नहीं कर रही, क्योंकि मेरी प्रकृति भी मलिन त्रिगुणमयी नहीं है। वह विशुद्ध सत्त्वरूपा है। तब क्या भगवान् आविष्ट होकर मेरे शरीरसे कर्म करते हैं ? यह भी स्थिति सर्वथा नहीं है, क्योंकि मेरे भगवान् परम रसमय हैं और उन्हें अपनी रसमयी लीलाओंसे अवकाश ही नहीं है कि वे इस त्रिगुणमयी मायाके प्रपंचकी ओर दृष्टिपात ही करें। तब क्या वे अपने संकेतसे प्रेरितकर किसी अन्य शक्तिसे यह कार्य कराते हैं ? यह भी सत्य नहीं है, क्योंकि मेरे भगवान् अपनी प्रियतमा राधा और गोपियोंके अतिरिक्त किसी अन्य शक्तिकी स्मृति ही नहीं रखते। तब मेरे तो यही समझमें आता है कि प्रारब्धानुसार इस शरीरका स्वभाव ही इससे कर्म करा रहा है। इसका मात्र स्वभाव ही कर्त्ता है। मुझे तो यही लगता है।"

यह विशुद्ध ज्ञानोत्तर प्रीतिभावकी दृष्टि है। इसके अतिरिक्त भी एक निगूढ़ स्थिति और है, जिसे शब्द देना कठिन है। उसमें भोक्ता, भोग्य एवं भोग, कर्त्ता, कर्म एवं करण तीनों ही मात्र श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं। यह स्थिति मात्र अनुभवगम्य ही है। यह अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय है।

संक्षेपमें मैंने आपके प्रश्नका उत्तर दे दिया है। सबको यथायोग्य

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधाकृष्णौ वन्दे ।।

पत्र संख्या : २१

समाधि-अवस्थामें क्या सच्चे भगवद्दर्शन होते हैं ?

पत्र-प्रेषक :

पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज (प.पू. श्रीराधाबाबा)

पत्र-प्रेषिति :

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

पत्र-प्रेषण स्थल :
गीतावाटिका, गोरखपुर
दिनांक :
तिथि अज्ञात, वर्ष २००३

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकिसनजी डागाका पत्र-संग्रह
(श्रीमोहनलालजी झुनझुनूवाला द्वारा
बाँकुड़ासे प्रतिलिपि कर लाये गये
पत्रोंकी कापी)

प्रिय श्रीहरिकृष्णदासजी,

सप्रेम यथायोग्य । साधारणतया सभी साधकोंमें यही विश्वास है कि समाधि-अवस्थामें ही भगवान् अथवा ब्रह्मका साक्षात्कार संभव है परन्तु मेरी दृष्टिमें यह पूर्ण सत्य नहीं है। मेरी छोटी समझमें समाधि चित्तकी अवस्था विशेष मात्र ही होती है। यथार्थ भगवद्दर्शन कहें, अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार कहें, (अर्थात् शुद्ध चिद्रूपी संवित्का साक्षात्कार) जबतक चित्त रहता है, हो ही नहीं सकता। भगवान्का साक्षात्कार, विशुद्ध भगवद्दर्शन भगवान् जब कराते हैं, तभी संभव है। यहाँ यह भेद समझनेकी पूरी आवश्यकता है कि भगवान् चित्शक्ति हैं, चित्त नहीं है। अतएव विशुद्ध भगवद्दर्शनका अर्थ है भगवान्का स्वयं अपना, अपने ही द्वारा दर्शन करना। यह वस्तुतः समाधि-अवस्था नहीं है, यहाँ समाधिजनित प्रज्ञा भी नहीं है। क्योंकि समाधिजनित प्रज्ञा, चित्स्वरूप और सत्वगुण दोनोंकी ग्रन्थि, बद्धावस्था मात्र है। चित् और अचित्की ग्रन्थि मुक्त हो जानेपर समाधि प्रज्ञा रह नहीं सकती, क्योंकि सत्वगुण मूलप्रकृतिमें अस्तमित हो जाता है। सत्वगुणके मूल प्रकृतिमें अस्तमित होनेपर ही चिद्रूप पुरुष अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। पुरुष स्वरूपतः ही स्वप्रकाश है, इसीलिये वह साक्षात्कारात्मक है। समाधि- अवस्थाके पश्चात् भाग्यक्रमसे या भगवदनुग्रहके प्रभावसे यदि भगवत्-साक्षात्कार हो, तब वह पुनः निवृत्त नहीं हो सकता है।

मैं श्रीसेठजी जयदयालजी एवं श्रीभाईजी दोनों महापुरुषोंको नित्यसिद्ध मानता हूँ, क्योंकि एक क्षणके लिये यथार्थ भगवद्दर्शन होनेपर वस्तुतः वह साधक नित्यसिद्धकी श्रेणीमें आ जाता है। एक बार यथार्थमें भगवद्दर्शन होनेपर फिर भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी पदार्थके दर्शन संभव ही नहीं हैं। मैंने इस विषयमें एक बार सेठजी श्रीजयदयालजीसे स्पष्ट उनकी अनुभूति पूछी थी। एक दिवस वे अनेक लोगोंसे घिरे थे। जगत्‌की चर्चा ठहाका लगाकर लोग कर रहे थे। श्रीसेठजी सबकी कुशल क्षेम पूछ रहे थे। वे मोटरसे हरिद्वारसे आगे कहीं (पूरा स्मरण नहीं) जा रहे थे। मैं भी उनके साथ ही जानेवाला था। रास्तेमें मैंने उनसे पूछा – "सेठजी ! आप इतने लोगोंसे व्यावहारिक वार्त्तायें कर रहे थे उस समय एवं अब इस मोटरमें मेरे संग बैठे हुए आपकी वृत्ति कहाँ स्थित है ?" उन्होंने उस समय जो भी उत्तर दिया, मुझे स्मरण है। उन्होंने जो कुछ कहा उसे मारवाड़ी भाषामें न कहकर वह मेरे शब्दोंमें यह है "जबतक संस्कारोंका पूर्ण क्षय नहीं होता, आत्मसाक्षात्कार होने पर भी संस्कार उद्‌बुद्ध होनेसे जगत् दर्शन हो जाता है। यह दर्शन वस्तुतः सर्व-साधारण लोगों जैसा जगत्-दर्शन नहीं है। आत्माके मात्र एकबार साक्षात् कर लेनेसे ही फिर जगत्‌में लौटना नहीं होता। मैं सभी लोगोंसे मिलते समय अथवा जगत्-चर्चा करते समय निरन्तर यही अनुभव करता हूँ कि घन आनन्द ही आनन्दके विलक्षण अथाह समुद्रमें यह जगत् मिथ्या प्रतिभासमात्र है। यह सब पूर्व-दृष्ट जगत्‌का संस्कारजनित दर्शन है, वस्तुतः दर्शन नहीं। इसे विपरीत रूपमें पुनः समझ लीजिये। जब मैं निर्गुण-निराकार घन आनंदस्वरूप परमात्माका ध्यान कराता हूँ, तो लोग खुली आँखों, अथवा नेत्र निमीलित करके भी देखते तो मात्र अंधकार हैं, परन्तु वे मात्र पूर्व कभी आये हुए किसी आनन्दकी संस्कारजनित कल्पना मात्र करते हैं, उन्हें घन आनन्द, अखण्ड आनन्द, मात्र आनन्दके अनुभवरूप दर्शन नहीं होते, इसी प्रकार मुझे जगत्‌के भीतर जगत्‌का व्यवहार करते हुए भी प्रत्यक्ष दर्शन तो घन आनन्दस्वरूप ब्रह्मके ही होते रहते हैं, परन्तु मैं पूर्व-दृष्ट जगत्‌का संस्कारानुसार व्यवहार मात्र करता हूँ। स्वप्न टूट जानेपर स्वप्नका दर्शन नहीं होता, परन्तु जग जाने पर जाग्रत दृष्टामें स्वप्नके मिथ्यात्वका पूर्ण ज्ञान होते हुए भी, जैसे उसकी स्मृति रह सकती है, यही दशा जगत्-व्यवहारके समय मेरी जाननी चाहिये।"

श्रीसेठजीने मुझे एक बात और अति महत्वपूर्ण कही थी। यहाँ उसे ही उल्लेख करना मेरा वास्तविक उद्देश्य है। उन्होंने कहा "स्वामीजी ! मुझे प्रकृत्ति-विनिर्मुक्त शुद्धात्माका भी स्वरूप साक्षात्कार हो चुका है, परन्तु मैं इस

अवस्थाको पूर्ण नहीं मानता। क्योंकि इस आत्मदर्शनके अन्तर्गत सर्वभूत-दर्शन नहीं रहता। मेरी मान्यता ऐसी है कि पूर्ण आत्मदर्शन तभी संभव है, जब सर्वभूतका आत्मरूपेण साक्षात्कार हो। सर्वसाधारणको या मुझे भी ज्ञानकालके पूर्व जो सर्वभूतोंका दर्शन होता था वह अनात्मक अथवा मिथ्या-दर्शन था। किन्तु अब जो सर्वभूतोंका दर्शन हो रहा है, वह आत्मरूपेण विलक्षण दर्शन हो रहा है। यह स्थिति कैवल्य-मुक्तिसे मैं उच्च ही समझता हूँ, क्योंकि कैवल्य अवस्था समग्र नहीं है, वह व्यतिरेकात्मक पूर्णता है। परन्तु भगवान्की (आत्मशक्तिके सगुण रूपकी) कृपासे भगवती चित्शक्तिका उन्मेष अखण्ड नित्य रहनेपर, कैवल्य-स्थितिकी प्राप्तिके उपरान्त यह विलक्षण दशा संभव है, जिसमें सर्वभूतोंमें पूर्ण भगवान्के दर्शन होते हों।''

यही बात श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने भी मुझे कही थी – ''स्वामीजी ! भगवान्के पूर्ण स्वरूपके साक्षात्कारके पश्चात् जगत्की पृथक् सत्ता रहती ही नहीं; मेरे मनमें प्रारंभमें जब सन्यास लेनेकी बार-बार प्रवृत्ति होती थी, एकान्तमें रहनेकी निरन्तर रुचि रहती थी, तो एकबार भगवान्ने प्रकट होकर मुझे कहा – ''मूर्ख ! मुझसे पृथक् जगत्की सत्ता है कहाँ ?'' उसके पश्चात् तभीसे प्रभुने ऐसी कृपाकी कि अखण्ड भगवान्में चैतन्यमयी शक्तिके विलासरूपमें जगत् नित्य प्रत्यक्ष होता रहता है, पूर्वानुभवके स्मृतिरूपमें नहीं। बाबा ! मेरे लिये अब अतीत और अनागत, दोनों अखण्ड भगवान्में नित्य वर्त्तमान हैं। अब मेरे लिये ***'सर्वम् कृष्णमयं जगत्' वस्तुतः प्रत्यक्ष है।''***

हरिकृष्णदासजी ! भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की वह बात, सुनकर मैं श्रद्धाभिभूत हो उठा था। आप तो उपनिषदोंके मर्मज्ञ हैं। उपनिषद् कहते हैं-

''यस्य सर्वं आत्मैवाभूत तत्र किं केन पश्यति ?''

सभी वस्तु वस्तुतः श्रीकृष्ण हैं, यह श्रीभाईजीको केवल ग्रंथसे ज्ञात नहीं है, उनका प्रत्यक्ष अनुभव है, और यह आठों याम उनमें सम्यक्रूपसे पूर्णतया व्यवहृत हो रहा है।

इस अवस्थामें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, सहज भगवान् ही भगवान् हैं। भगवान्से पलभर भी पलक झपकनेतककी भी च्युति नहीं। मुझे तो यही पूर्ण स्वरूप-साक्षात्कार अथवा भगवत्प्राप्ति समझमें आती है।

मैं साधिकार कुछ भी कह सकूँ, ऐसी मेरी योग्यता नहीं। मैंने अपना तुच्छ मत मात्र आपके प्रेमको देखकर व्यक्त किया है। कुछ भी आपको रुचिकर लगे – तो यह विचारणीय है, अन्यथा इसे फाड़कर फैंक देंगे। सबको यथायोग्य।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २२

महाजनो येन गतः स पन्थाः

गोरखपुर

तिथि - अज्ञात

प्रिय श्रीहरिकृष्णदासजी ! सादर सस्नेह राधास्मरण ।

आपका पत्र मिला। आपने गूढ़ प्रश्न किया है कि तत्वज्ञानी मुनियोंमें भी जो पूर्ण सत्यके साक्षात् स्वरूप ही होते हैं, मतभेद संभव है क्या ? इसी संदर्भमें आपने एक श्लोक भी उल्लेख किया है -

"वेदाः विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नाऽसौ मुनिः यस्य मतं न भिन्नम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।"

"अर्थात् वेदोंमें भिन्न-भिन्न अनेक मत हैं, स्मृतियाँ भी विभिन्न मतोंकी प्रतिपादक हैं, एवं ऐसा कोई मुनि भी नहीं दिखता जिसका मत एक दूसरेसे भिन्न नहीं हो। धर्मका तत्व अत्यंत गूढ, मन-बुद्धिसे परेकी गुहामें निहित है अतः जिस पथका महापुरुष आचरण करते हैं; वही सत्यांशमें पथ है।

आपके प्रायः पत्र ऐसे गूढ़ तत्वोंके प्रश्नोंसे ही भरे रहते हैं, जबकि आप जानते हैं कि मैं शास्त्रोंके पठन-पाठन, उनके मनन-चिन्तनसे सर्वथा विरत, मौन, एकान्त-साधनामें ही लगा रहता हूँ। यह आपका मुझपर असामान्य प्रेम और विश्वास है। फिर मैं आपके पत्रोंका महीनों उत्तर नहीं देता, तब भी आपके मुझसे प्रश्नोत्तर करनेके उत्साहमें कभी कमी नहीं आती। मेरा तो यही निवेदन है कि ऐसा ही शुद्ध प्रेम आप मुझसे सदा करते रहें।

आपके प्रश्नका उत्तर जैसा श्रीकृष्ण प्रेरणा दे रहे हैं, लिख दे रहा हूँ।

हरिकृष्णदासजी ! धर्मका तत्व एक अत्यन्त गंभीर और परमगूढ़ रहस्य है। वह मनसे अतीत है। मनका पूर्णतया निरोध हुए बिना इस गुहामें प्रवेश असंभव है। शास्त्रोंमें जो भी वर्णन है, वह वर्णन सभी मुनियोंने मनको लेकर ही किया है। जो भी, चाहे वह कितना ही ऊँचे-से-ऊँचा सिद्ध महापुरुष ही क्यों न हो, जब मनको लेकर तत्वकी व्याख्या करेगा, तत्वका दर्शन करनेका प्रयास करेगा तो उसको शास्त्रके तत्व अपनी प्रकृतिके अनुसार ही दिखाई पड़ेंगे।

प्रत्येक मुनिकी प्रकृति भिन्न है, अतः उनकी प्रकृतिकी भिन्नता ही मतोंकी विभिन्नताका कारण है। जब मुनि अपने मनोंके अनुगामी हैं, तो उनके

भिन्न-भिन्न मत स्वाभाविक ही हैं।

विशुद्ध तत्वका साक्षात्कार तो मनको अतिक्रम करके होता है, किन्तु उस स्थितिका साक्षात्कार कर लेने पर भी वर्णन नहीं हो सकता। कारण यही है कि वर्णन करनेके लिये मन-वाणीकी आवश्यकता होगी ही। प्रत्येक वाणी एवं शब्दके पीछे मनकी पृष्ठभूमि रहती ही है। जहाँ मन है वहाँ विकल्प होंगे ही। स्वरूप साक्षात्कार वितर्क समाधि द्वारा भी संभव है और प्राचीन कालके योगियोंने वितर्क समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञानका ही विवरण जनताके सम्मुख व्यवहार भूमिमें दिया है। ये सभी विवरण विकल्पमय हैं।

तत्वका साक्षात्कार वहाँ होता है, जहाँ मन रहता ही नहीं। वह निर्विकल्प भूमि है। परन्तु निर्विकल्प भूमि में बुद्धिका अभाव होनेसे तत्वका वर्णन असंभव है। तत्वका वर्णन तो वाक्यों द्वारा होगा जिसमें मन परमावश्यक है। अतः निर्विकल्प ज्ञानका वर्णन हो ही नहीं सकता। जहाँ, जो जितना वर्णन है, वह मात्र विकल्प ज्ञानही है।

वेद-स्मृति सभी शब्दात्मक हैं, अतः परम प्रामाणिक होनेपर भी ये विकल्प रहित नहीं हैं। "मननशीला मुनयः" मुनि सभी मननशील हैं, वे विकल्पसे रहित नहीं हैं। इसलिये मात्र इन मुनियोंकी वाणीके अध्ययनसे विकल्प रहित तत्वकी उपलब्धि संभव नहीं है।

आजकलके तथाकथित ज्ञानियोंसे मेरा यहाँ मतभेद है। तथाकथित ज्ञानी कहते हैं कि गुरुमुखसे तत्वज्ञान एवं वेदान्तके महावाक्य श्रवण मात्रसे तत्व प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाती है। मैं ऐसा नहीं मानता। श्रवण उत्तम है, परन्तु इतने मात्रसे हृदयगुहामें प्रवेश नहीं मिलता। ज्ञान-कथन, ज्ञान-श्रवण साधन हो सकते हैं, सिद्धि नहीं। उसके लिये मनसे अतीत अवस्था प्राप्त करनी आवश्यक है। निर्विकल्प सत्य एकमेव है, वह वाणीका विषय है ही नहीं। वह निर्विवाद निर्विकल्प है।

जन-साधारण तत्वान्वेषणके लिये मनसे अतीत इस पूर्ण निर्विकल्प हृदय-गुहामें क्योंकि प्रवेश नहीं पा सकता, अतः उसके लिये महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण करना ही एकमात्र उपाय शेष रहता है।

राधा राधा राधा राधा

(श्रीहरिकृष्णदासजीको चिम्मनलाल गोस्वामी का सस्नेह हरि-स्मरण)

।। श्रीराधा।।

पत्र संख्या - २३

भगवान् ही पूर्ण योगी हैं

गोरखपुर
तिथि - अज्ञात

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका !

सादर सस्नेह राधा-राधा। आपका पत्र मिला। इस बार आपका पत्र योगके संबंधमें है। आपने लिखा कि योगी असंभवको भी संभव कर सकता है – क्या यह सत्य है ?

मेरी इस सम्बन्धमें जो धारणा है, वह लिख दे रहा हूँ। जिन्हें हम-आप गेरुआ वस्त्र धारण किये मठोंमें निवास करते देखते हैं, वे साधक मात्र हैं। योगी अत्यंत दुर्लभ हैं। योगका अर्थ है किसी वस्तुसे जुड़ना। जो कर्म परमात्मासे जुड़नेके लिये किया जाता है, उसे कर्मयोग कहा जाता है। यह सबके मूलमें है। यह कर्म सर्वथा निष्काम होता है। इसलिये इसे कुशल कर्म भी कहते हैं। परमात्मासे जुड़नेके लिये इस कर्म-कौशलकी नितान्त आवश्यकता है।

''योगः कर्मसु कौशलम् ''।

यह निष्काम कर्म ही मन्थन है। इस मंथनके अन्तमें ज्ञानामृत उपलब्ध होता है। चैतन्यरूप ज्ञानके पश्चात् ही अनुभव होता है कि हम भगवान्के अंश हैं, और तब अंशी भगवान्से भक्ति होती है। भक्तिसे ही यह अनुभव होता है– भगवान् मेरे हैं और तब उनसे प्रेम होता है। प्रेम भगवान्से साक्षात्कारका हेतु है।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमतैं प्रकट होंहि मैं जाना ।।

ईश्वर-साक्षात्कारसे जीवमें ईश्वरत्वका प्रकाश होता है, तभी वह महाशक्तिकी उपासनाका अधिकारी होता है। ईश्वर-साक्षात्कारके पश्चात् महाशक्तिकी उपासना संभव है, पहले नहीं। अतः ईश्वर-साक्षात्कारके पश्चात् ही सही रूपमें योग साधना प्रारंभ होती है।

वस्तुतः योग जीवत्व रहते संभव नहीं है। महाशक्तिसे योग होना ही योगी होना है। पूर्ण योगी ईश्वर है, उसका सत्य अर्थमें महाशक्तिसे नित्य योग होता है। ईश्वर नित्य उपासक है और महाशक्ति सदा उपास्य है। ईश्वर और